अथ वेद-नित्यत्व-विचारः

(वे० पा० पृ० ५११) ईश्वरस्य सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो-नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्व-सामर्थ्यस्य नित्यत्वात्' इति भूमिका-पाठे करपात्रमहोदयः आक्षिपति "ईश्वर-सामर्थ्यस्य नित्यत्वेऽपि तत्कार्यस्य वेदस्य नित्यत्वाऽयोगात्। तथात्वे सर्वस्यैव जगतः ईश्वर-सामर्थ्यस्य नित्यत्वेन नित्यत्वाऽऽपातात्" इति।

(समाधानम्) अयमत्र वेदान् ईश्वर-सामर्थ्यस्य कार्यत्वेन प्रतिपादयति, परं न तथा ऋषिणा प्रत्यपादि। इह तु वेदाः परमात्मनः सामर्थ्यं, समर्थयते इति समर्थस्तस्य भावः सामर्थ्यं, तच्च शक्तिरेव।

सामर्थ्य-शब्दस्य चार्थः शक्तिः, ज्ञानं, योग्यता, क्रिया चेति यथा—'निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्' (गीता) इह सामर्थ्यं शक्ति र्योग्यता च।

(वे. पा. पृ. ५११) 'ईश्वर से वेद उत्पन्न होने के कारण वेदों का नियत्व स्वतःसिद्ध है, क्योंकि ईश्वर का सर्व-सामर्थ्य नित्य है' भूमिका के इस कथन पर वेदार्थ-पारिजातकर्त्ता का कथन है कि ईश्वर-सामर्थ्य के नित्य होने पर भी उसके कार्य वेद का नित्यत्व नहीं हो सकता, वैसा मानने पर ईश्वर-सामर्थ्य के नित्य होने से सब जगत् का भी नित्यत्व प्राप्त होगा।

(समा०) यहां आप वेदों को ईश्वर-सामर्थ्य 'कार्य' प्रतिपादन कर रहे हैं, परन्तु ऋषि दयानन्द ने इन्हें कार्य नहीं माना। यहाँ तो वेद स्वयं ही परमात्मा के सामर्थ्य बताये गये हैं। समर्थ का भाव ही सामर्थ्य होता है, परमात्मा समर्थ है और उसकी शक्ति तथा ज्ञान सामर्थ्य है। अमरकोष में भी 'समर्थस्त्रिषु शक्तिस्थे' के अनुसार समर्थ का अर्थ शक्तिमान् है।

सामर्थ्य शब्द का अर्थ शक्ति ज्ञान योग्यता और क्रिया है। जैसे कि—तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे इससे अधिक दुःख क्या हो सकता है, (गीता) यहाँ पर सामर्थ्य शब्द का अर्थ शक्ति और योग्यता है। 'मुझे

तथा च 'नहि मे जीविते किञ्चित्सामर्थ्यमिह कल्पते (वा० रा०) इह च सामर्थ्यं योग्यताऽभिप्रेता ।

श्वेताश्वतरोपनिषदि च 'पराऽस्य शक्ति विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया चेति ।

अत्र शक्तिः सामर्थ्यं ज्ञानं क्रिया चेति अभिप्रीयते ।
क्वचिच्च सामर्थ्य-शब्देन प्रकृतिरपि अभिधीयते यथाप्रकरणम् ।
(वे० शां०-भा० १।३।३०)

शक्तिमतः शक्तेर्ज्ञानस्य वेदरूपस्य उत्पत्तिरभिव्यक्तिः प्रकाशन-मृषीणामन्तःकरणेषु, ईश्वरस्य सकाशाद् उपस्थितिमात्रादुपजायते । इह सकाशाद् इति पदं महत्त्ववदस्ति, आप्टे कोशेऽपि, सकाशादित्यस्य अर्थः एष एव । जगत्तु नैव ईश्वरस्य सामर्थ्यं तस्योत्पत्तौ प्रकृतिर्हि उपादानम् ईश्वरस्य सामर्थ्यं चेह निमित्त-कारणं भवति, तस्मात् जगतो नित्यत्वाऽऽपात-सम्भावनयाऽलम् ।

द्वितीयं पदमिह 'स्वतः' इत्यपि महत्त्व-पूर्णम् । स्वनति शब्दं करोति इति स्वः परमात्मा तस्मात् स्वतः परमात्मनः, अतः स्वतः

जीवित रहने में कुछ भी सामर्थ्य नहीं दीखता' (बा. रा.) । यहाँ पर सामर्थ्य का अर्थ योग्यता अथवा सार अभीष्ट है, और श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'उसकी पराशक्ति विविध प्रकार की है, तथा ज्ञान बल युक्त क्रिया स्वाभाविक है। यहां पर शक्ति (सामर्थ्य) ज्ञान और क्रिया हैं ।

कहीं पर प्रकरणानुसार सामर्थ्य 'शक्ति' का अर्थ प्रकृति भी होता है। (वे. शा. भा. १।३।३०)

इस प्रकार शक्तिमान् की शक्ति ज्ञानरूप वेदों की उत्पत्ति अर्थात् प्रकाशन या प्रादुर्भाव ऋषियों के अन्तःकरणों में ईश्वर के सकाश अर्थात् सन्निधि मात्र से हुआ । यहां 'सकाश' पद महत्त्वपूर्ण अर्थध्वनित करता है । आप्टे कोश में भी सकाश पद का यही अर्थ है । जगत् ईश्वर की सामर्थ्य नहीं है, इसकी उत्पत्ति में प्रकृति उपादान कारण है और ईश्वर का यह सामर्थ्य (शक्ति) निमित्त-कारण है, अतः जगत् के नियत्व की शंका करना निराधार है ।

यहाँ द्वितीय पद 'स्वतः' भी महत्वपूर्ण है। स्वन अर्थात् वेद-रूप शब्द को करने या बनाने वाला परमात्मा ही स्व है, अतः स्वतः अर्थात् स्व (परमात्मा)

सिद्धं नित्यत्वं जायते वेदानाम् । "न च वेदानाम्.........सामर्थ्य-जन्यत्वात्" इति वचस्तु स्वोक्तस्य प्रमादजन्यं पिष्टपेषणमेव ।

भवता 'सकाशात्' 'स्वतः' इति पदद्वयस्य निरर्थकता या प्रोच्यते सा तु तदर्थवैशिष्ट्यानवबोधन-कारणादेव । अथापि एतत्पदद्वय-निरर्थकता प्रथमं स्वकीये सायणाचार्ये आरोपयितव्या, यथा ह्यसौ स्वभूमिकायां लिखति "आदि-सृष्टौ ब्रह्मणः सकाशाद् वेदोत्पत्ति-राम्नायते । ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन वेदस्य वक्तृ-दोषाऽभावात् स्वतः सिद्धं प्रामाण्यं तदवस्थमिति ।"

भो ! सायणस्य किमत्र द्वयमपि पदं निरर्थकम् ? ऋषिप्रोक्त-योरनयोः पदयोर्विशिष्टार्थावगाहिनी-सार्थकता तु इहैव मया प्रति-पादिता ।

(वे० पा० पृ० ५११ पं० ६) 'नह्यन्यस्य नित्यत्वेनाऽन्यस्य नित्यत्वमतिप्रसङ्गात्' इति उक्तिरपि स्वकल्पितैवाऽसङ्गता च ।

तः से वेदों का नियत्व स्वयं सिद्ध है । वहां पर 'वेद के ईश्वर-सामर्थ्यजन्य होने से जगत् की भी नित्यता आ जायेगी' यह आपका पुनर्वचन प्रमादजन्य-पिष्टपेषण मात्र है ।

'सकाशात्' और 'स्वतः' इन दोनों पदों के प्रयोग की निरर्थकता आपके द्वारा कहना तो इनके अर्थ की विशेषता के न जानने के कारण है ।

यह पदद्वय की निरर्थकता का आरोप तो पहले आपको सायणाचार्य पर लगाना चाहिये था, क्योंकि उन्होंने भी अपनी भूमिका में सकाशात् और स्वतः इन दोनों पदों का प्रयोग किया है । क्या यहां ये दोनों पद निरर्थक हैं ? हमने महर्षि प्रयुक्त इन दोनों पदों के पाठ के विशिष्टार्थ को ध्वनित करने वाली सार्थकता सिद्ध कर दी है ।

(वे. पा. ५११ पं ६) "अन्य के नियत्व से अन्य के नियत्व का अति-प्रसङ्ग होगा अर्थात् जो नित्य नहीं है वह भी नित्य होने लगेगा" यह कथन भी आपका कल्पित और असङ्गत है, क्योंकि ऋषि-दयानन्द ने अन्य के नित्वत्व में अन्य को हेतु यहाँ नहीं कहा है । आप ही उलटा समझ रहे हैं कि वेद अन्य है और सामर्थ्य तथा ईश्वर अन्य है ।

नहि ऋषिणा अन्यनित्यत्वेऽन्यस्य हेतुत्वमुक्तम्। अपि तु भवानेव विपरीतमेव प्रतिबुध्यते यदन्यो वेदोऽन्यच्च सामर्थ्यमीश्वरो वाऽन्यः । इह तु वेदानां स्वतो-नित्यत्वे तेषां सामर्थ्य-रूपत्वाद् ईश्वरस्य सर्व-सामर्थ्यस्य नित्यत्वं व्याख्यायते। यदि नाम ईश्वरोऽन्यः, बेदरूपं ज्ञानं चान्यत्, इत्यतोऽन्यत्त्वं स्यादिति चेन्न, ज्ञानरूप-वेदानामीश्वरस्य गुणत्वात्तदनन्य-सामर्थ्याद् वेति।

किञ्च ज्ञानस्य परमात्मनश्च समवाय-सम्बन्धो हि विद्यते। तदेवमेकस्य नित्यत्वेऽपरस्यापि नित्यत्वं भवत्येव, यथा चोक्तम् "अयुत सिद्धयोः सम्बन्धः समवायः, ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तौ च अयुतसिद्धौ"। तदेवं गुणा-गुणिनौ क्रिया-क्रियावन्तौ च अयुतसिद्धौ एव । तस्माद् गुणिनःपरमात्मनो विभुत्वान्नित्यत्वाच्च चेतनात्मसु ज्ञान-प्रकाश-सम्भवः अभूदेव। शब्दार्थ-सम्बन्धानां सिद्धत्वात् (नित्यत्वात्) च वेदानां नित्यत्वं सर्वथा सिद्धम् ।

निमित्त-भूतेनेश्वर-सामर्थ्येन उपादानरूपायाः प्रकृतेरुत्पाद्यमानता जगतश्च नित्यत्वापातो न भवति, प्रकृतेः परिणामित्वेन जगतः

महोदय ! यहाँ तो वेदों के स्वतः नियत्व में वेदों के सामर्थ्य-स्वरूप होने से ईश्वर के सर्व-सामर्थ्य के नित्यत्व का प्रतिपादन किया जा रहा है। यदि ईश्वर और उसका सामर्थ्य अन्य होता तथा वेद-ज्ञान इससे अन्य होता, तब तो आपकी यह बात बन सकती थी। आपकी यह अन्यथा अशास्त्रीय और असङ्गत है, क्योंकि ज्ञान रूप वेद ईश्वर का गुण या सामर्थ्य है।

ज्ञान और परमात्मा का समवाय-सम्बन्ध है, इस प्रकार एक के नित्य होने पर अन्य का भी नित्यत्व होता ही है। जिनके मध्य में एक नष्ट न होता हुआ अपराश्रित ही रहता है, वे अयुत-सिद्ध होते हैं अर्थात् गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् आदि अयुत सिद्ध हैं। फिर उसी गुणी परमात्मा से विभुत्व और नित्यत्व के कारण चेतन अग्न्यादि-ऋषियों की आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश सर्वथा संभव है, तथा शब्दार्थ सम्बन्धों के सिद्ध अर्थात् नित्य होने से वेदों का नित्यत्व भी सिद्ध है।

जगत् के निमित्त-भूत ईश्वर के सामर्थ्य द्वारा उपादान-रूप प्रकृति से उत्पाद्यमान होने के कारण जगत् के नित्यत्व की बात निर्मूल हो जाती है।

सृष्टि-रूपं प्रलये प्रकृतिलीनं जायते, परं न तथा वेदाः प्रकृतौ प्रलीयन्ते, परमात्मन्येव सदा तिष्ठन्ति। अपरं चेदमवगन्तव्यं यन्न कस्यापि नित्यत्वस्य अनित्यत्वस्य वा प्रतिपादकं निमित्त-कारणं हेतु भवति, अतो जगतोऽपि नित्यत्वं निमित्तीभूतसामर्थ्येनोत्पन्नत्वान्न, आशङ्कनीयम् । तत्र नित्यानित्ययोर्निरवयवसावयवयोर्नियमनात्। एवं ज्ञानस्य निरवयवत्वं, जगतश्च द्वयणुकादि-संयोग-जन्यत्वेन सावयवत्वं शास्त्र-सिद्धम्।

ऋषिणा नित्य-कार्य-शब्दयोरत्र भेदोऽपि व्याख्यायते :- ये परमात्मनो ज्ञानस्थाः शब्दार्थ-सम्बन्धाः सन्ति ते नित्याः। अस्मदादीनां तु ते कार्या, अनित्याः। ज्ञानरूप-वेदानां विषये दर्शने प्रोक्तं, 'ज्ञानानुपाति-शब्दानां शास्त्रैर्नित्यत्वाऽऽपादनाच्चादि,' अर्थात् वैदिकाः शब्दा ज्ञानानुपातिनो भवन्ति। अस्माकं तु शब्दानुपातिज्ञानमिति तद्भेदः।

एतमेव अभिप्रायं विज्ञाय मीमांसकास्तु नाङ्गीकुर्वन्ति वेदोत्पत्तिं, वेदान्तिनोऽपि एतदभिप्रायका एव। परमीश्वरीय-ज्ञाने न वैमत्यम्।

(वे० पा० ५११ पं० १५) यच्चोक्तं "परमात्मज्ञानस्थानां शब्दार्थ-सम्बन्धानां नित्यत्वे तदुत्पत्ति-साधन-प्रयासस्य वैयर्थ्यापत्तेः

प्रकृति परिणामिनी है, अतः जगत् प्रलय-काल मे प्रकृति मे लीन हो जाता है; परन्तु वेद प्रकृति में लीन नहीं होते, वे परमात्मा में सदा वर्तमान रहते हैं।

दूसरी बात यह भी समझिये कि किसी के नित्यत्व या अनित्यत्व के प्रतिपादन में निमित्त कारण को हेतु नहीं माना जाता, अतः जगत् के भी नित्यत्व की शंका नित्यनिमित्तो-भूत सामर्थ्य से उत्पन्न होने के कारण नहीं की जा सकती, क्योंकि नित्यता और अनित्यता में निरवयवता तथा सावयवता नियामक होती है। इस प्रकार ज्ञान का निरवयत्व और जगत् का द्वयणुक आदि के संयोग-जन्य होने से सावयवत्व शास्त्र-सिद्ध है।

यहां पर ऋषि ने नित्य और कार्य शब्दों का भेद भी बताया है।

जो शब्दार्थ-सम्बन्ध परमात्मा के ज्ञान में स्थित हैं, वे नित्य तथा हम लोगों के अनित्य अर्थात् कार्य हैं। ज्ञानरूप वेदों के विषय में दर्शन में कहा कि ज्ञानानुपाति-शब्दों को शास्त्रों ने कहा है अर्थात् वैदिकशब्द ज्ञानानुपाती हैं और हम लोगों का ज्ञान शब्दानुपाती है। यही इन दोनों का भेद है। इसी

दयानन्दोक्तं (शब्दनित्यत्व-साधनं) प्रमत्त-प्रलपितमेव" इति। सत्यमिह कापालिकेनानेन महर्षिं दयानन्दं प्रमत्तमिति ब्रुवता स्वबुद्धेः संतुलनं सर्वथाऽपास्तम्। तदेष आरोपस्तु ऋषेरभिप्रायानवबोधादेव, यतो हि उत्पत्तिशब्देनाऽत्राभिव्यक्तिरेवाभिप्रेता, ऋषीणामन्तःकरणेषु व्यापकेन ईश्वरेण वेद-ज्ञानस्याभिव्यञ्जनात्, अतो भवत एव प्रलापः।

(पृ. ५१२ पं. २) यदुक्तं 'किं शब्दमयत्वं हेतुः शब्दाऽनित्यत्व-साधको नास्ति? इति, तदेतद् भवादृशां शङ्कनमभिलक्ष्यैव महर्षिणा समाहितं यत् परमात्म-ज्ञानस्थाः शब्दार्थ-सम्बन्धास्तु नित्याः।

ननु निराकारस्य ज्ञानगुणस्येव पृथक्कृत्य मुक्त्युपयोगि-ज्ञानस्य दातुरीश्वरस्य निराकारस्यापि खण्डानि भवितुमर्हन्ति इति चेन्न, यथा निराकाराकाशस्य घटमठादि-कारणवत्घटाद्याकाशसंज्ञा-वदौपाधिक-भेदेन विभागप्रतीतौ अपि अखण्डत्वाद् तथा ईश्वरस्याप्य-खण्डनीयत्वम्।

ननु प्रत्येक-सृष्टौ वेदाः प्रलीयन्ते पुनरुत्पद्यन्ते च तदा कथं न

अभिप्राय को मानकर मीमांसक और वेदान्तज्ञवेद की उत्पत्ति नहीं कहते, परन्तु वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने में इनका कोई वैमत्य (मतभेद) नहीं है।

(पृ. ५११ पं. १५) "परमात्म-ज्ञानस्थ शब्दार्थ-सम्बन्धों के नित्य मानने पर वेदों की उत्पत्ति का साधन-प्रयास व्यर्थ होने लगेगा, अतः दयानन्द का शब्द नित्यत्व-साधन पागल की बकवास है।" यहाँ सचमुच इस कापालिक ने महर्षि दयानन्द को 'पागल' कहकर अपनी बुद्धि के संतुलन को सर्वथा खो दिया है।

आपका यह आरोप ऋषि के अभिप्राय को न समझ सकने के कारण है, क्योंकि उत्पत्ति शब्द से यहाँ पर ऋषि को 'अभिव्यक्ति' अर्थ ही अभिप्रेत है। वह ईश्वर ऋषियों के अन्तः करणों में व्यापक होने से वेदों का अभिव्यञ्जन करता है। अतः आपकी नासमझी होने से आपका ही प्रलाप है।

(पृ० ५१२ पं२) यह शंका कि क्या शब्दमयत्व हेतु शब्दानित्यत्व साधक नहीं है?' यह आप जैसे लोगों के शङ्कोद्भावन को अभिलक्ष्य करके महर्षि ने समाधान दिया है कि परमात्मज्ञानस्थ शब्दार्थ-सम्बन्ध तो नित्य हैं।

यदि कोई कहे कि जिस प्रकार ईश्वर ने मुक्त्युपयोगी, खण्डरूप निराकार

तेषामनित्यत्वं वाच्यमिति चेन्न, "समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि अविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च" (वे० १।३।३०) तथा च 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इति श्रुतेः यथर्तुष्वृतु लिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये' इति स्मृतेः प्रामाण्याच्च। यथा हि- होराद्वयं वापि ग्रहे निलीनः पुरुषः स एव कथ्यते न च नामरूपभेदस्तस्य, प्रत्यहं च सूर्योदयानुदयौ दिवारात्रौ प्रमाणमिह। सूर्यश्चन्द्रश्चात्रोपलक्षणमात्रं मन्त्रे। प्रत्येक-सृष्टौ जगतः प्रत्येक-वस्तुनः सूर्यादिः समानरूपत्वादिति, शाङ्करभाष्य-दिशाऽपि प्रत्येकसृष्टौ वेदानामाविर्भावेऽविरोधात् नाऽनित्यत्वम्। तथा च भाष्यं "अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलय-प्रभव-श्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तर-प्रबोधव्यवहारान्न कश्चिद् विरोधः। एवं कल्पान्तर-प्रभव-प्रलययोरपि द्रष्टव्यम्"।

वेद-ज्ञान को अपने से पृथक् करके अग्नि आदि ऋषियों को दिया, उसी प्रकार निराकार ईश्वर के भी ज्ञानवत् खण्ड हो सकते हैं, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार घट पटादि उपाधिभेद से आकाश के घटाकाश मठाकाश आदि भेद प्रतीत होते हैं परन्तु आकाश अखण्ड है उसी प्रकार ईश्वर और उसका ज्ञान भी अखण्ड है।

प्र०—जब प्रत्येक सृष्टि में वेद उत्पन्न होते हैं और प्रलीन हो जाते हैं तब उनकी अनित्यता क्यों न अनुमानी जावे?

उ० "सृष्टि और प्रलय की आवृत्ति होने पर भी शब्द और अर्थ संबंध में अनित्यता रूप विशेष संभव नहीं हैं, क्योंकि उत्तर कल्प प्रपञ्च पूर्वकल्प प्रपञ्च के समान ही नाम रूप वाला है। (वे० १।३।३०)

यहाँ "सूर्या चन्द्र मसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादि श्रुति तथा "यथा ऋतुषु" इत्यादि स्मृति प्रमाण है और जैसे दो घंटे तक घर मे निलीन पुरुष प्रकट होने पर वही कहा जाता है, उसके नाम रूप का भेद नहीं होता तथा प्रत्येक दिन सूर्य का उदय और अस्तगमन दिन और रात्रि का प्रमाण स्वरूप है। "सूर्याचन्द्रम" इस मंत्र में सूर्य-चन्द्र नाम तो उपलक्षण मात्र हैं। प्रत्येक सृष्टि में संसार को प्रत्येक वस्तु सूर्यादि के समान नाम रूप वाली है अतः प्रत्येक सृष्टि में वेदों का आविर्भाव होने पर भी विरुद्ध कथन नहीं बनता। इसमें शांकर भाष्य प्रमाण है।—"अनादि संसार में जैसे सुषुप्ति और जाग्रति में उत्पत्ति और प्रलय के श्रवण के पूर्व प्रबोध के समान उत्तर

ननु सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन-कल्पना एव वेद-प्रवर्त्तने स्वीकार्या, सुप्त-प्रबुद्धस्येव वेदोदयादिति चेन्न, वेदस्तु परमात्मनो गुणः, गुणस्य च गुणिनः पृथगनाश्रयणात् । न च मोक्षे प्रलयावस्थायां वा जीवात्मसु वेदस्य स्थितिः स्यादिति वाच्यं, तेषामात्मनां वेदस्य स्वाभाविक-गुणाऽभावात् ।

ननु यथा कश्चित् शयित्वा प्रबुध्यते, सर्वं च पूर्वज्ञातं स्मरति, तथैव यैः पूर्वं वेदाः ज्ञाता आसन्, अग्रिम-सृष्टौ अपि ते तथैव तेषां स्मृतिमापतेयुः इत्यपि न युक्तम्, शयनादुत्थितस्य पूर्वान्तःकरणस्य वर्त्तमानत्वात् स्मृतेश्च तदधिष्ठानात्, मोक्षानन्तरं पूर्वान्तःकरणा-भावात् प्रकृति-संसर्ग-जन्यायाः पूर्वस्मृतेरनुदयनात् ।

न च किञ्चिन्निमित्तं वर्त्तते यद् ईश्वरस्य प्रेरणां बिना, भूयश्च मुक्तानां जन्मकाले वेदानां प्रतिभानं जायेत । भवन्मते तु इदं कल्पन मसङ्गतं सर्वथा, मुक्तात्मनामनावृत्ते ब्रह्मणि प्रलयाच्च । तदेतदेवम-बोद्धव्यं 'यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः ।" अर्थात् यस्य ज्ञानक्रिये समवायसम्बन्धेन नित्यत्वेन तिष्ठतः । समवाय-

---

जाग्रत अवस्था में व्यवहार होने से कोई विरोध नहीं होता, उसी प्रकार पूर्व कल्प के लय और उत्तर कल्प की उत्पत्ति में भी वैदिक नित्यता में भी कोई विरोध नहीं है ।

शङ्का—श्री करपात्री जी की सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन कल्पना कि जीव ही पुनः सोते से उठे हुये के समान वेदों को प्रकट कर देता है, और इस प्रकार वेद ज्ञान चलता रहता है, अतः ईश्वर से वेद उत्पन्न नहीं हुये। ऐसी वेद प्रवर्त्तन कल्पना क्यों न मान ली जावे ?

समा०—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि वेदज्ञान तो परमात्मा का गुण है और गुण कभी गुणी से पृथक् नहीं रहता । मोक्ष या प्रलयावस्था में भी जीवा-त्माओं में वेद स्थिति संभव नहीं, क्यों कि इनका यह स्वाभविक गुण नहीं है ।

शङ्का—जिस प्रकार कोई सोकर जागता है और समस्त पूर्वज्ञान को स्मरण कर लेता है । उसी प्रकार जिन्होंने वेद जान लिया है, उन्हें अग्रिम सृष्टि में भी वे पूर्ववत् स्मृत हो उठेंगे ।

समा०—यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि सोकर उठे हुये व्यक्ति के पास तो पूर्व अन्त-करण रहता है और उसमें स्मृति भी रहती है, परन्तु मोक्ष में

सम्बन्धेन च किं तिष्ठतीति जिज्ञासायां, यच्च स्वभावतः स्वस्य भावतः अस्तित्वेन सिद्धं भवति, तदेव हि अनादि भवति । अस्य परमात्मनो ज्ञानमपि स्वभाव-सिद्धम्, अतएव एतस्य नित्यत्ववद अनादित्वमप्याख्येयम् ।

(पृ. ५१२) आक्षेपः यत्तु "यदृच्छाशब्दानामनित्यत्वमभिप्रेतम् तदपि न किञ्चित् । तथात्वे तद्भिन्नानां रामायणमहाभारतादि शब्दानामस्मदादिप्रयुक्तशब्दानाञ्च नित्यत्वमेव सिध्यति । अस्यां च स्थितौ वेदानां नित्यत्व-साधनं विरुद्धमेव स्यात् "।

(समा०) यत् टिप्पणीत उद्धृतं तदन्यत् । ऋषि-शब्दावली तु एषा 'येऽस्मदादीनां (शब्दाः) वर्त्तन्ते ते तु कार्याः' एवम् अस्माकं जीवानां ज्ञानं तत्सहकृतक्रिया च अनित्ये एव स्तः । नहि

पूर्वान्तःकरण (भौतिक) नहीं रहता, अतः मोक्ष के अनन्तर प्रकृति-संसर्ग-जन्य पूर्व-स्मृति का भी उदय नहीं हो सकता ।

फिर ऐसा कोई अन्य निमित्त भी नहीं कि ईश्वर-प्रेरणा के बिना फिर से मुक्तों के जन्म काल में वेद का प्रतिभान हो जावे । फिर तुम्हारे मत में तो तुम्हारा कथन सर्वथा असंगत ही है, क्योंकि तुम तो मुक्तात्मा की मुक्ति से अनावृत्ति ही मानते हो, तथा उसका ब्रह्म में लय मानते हो । तो इस प्रकार समझना चाहिये कि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव-सिद्ध और अनादि हैं अर्थात जिसके ज्ञान और क्रिया समवाय संबंध से नित्यरूप में हैं । समवाय संबध से क्या रहता है इस जिज्ञासा में यही कथन है कि जो स्व-भाव अर्थात् अपने अस्तित्व से सिद्ध होता है, वही अनादि भी होता है । परमात्मा का ज्ञान भी स्वभाव-सिद्ध है अतः इसको अनादि भी कहना चाहिये ।

पृ० ५१२ आक्षेप) "यह कथन कि यहां पर यदृच्छा शब्दों की अनित्यता अभिप्रेत है पृ.३१ टि. ऐसा मानने पर यदृच्छा शब्द से भिन्न रायायण-महा-भारत आदि के शब्द तथा हमारे द्वारा प्रयुक्त शब्द नित्य सिद्ध हो जायेंगे । इस स्थिति में केवल वेदों की ही नित्यता सिद्ध करना विरुद्ध पड़ेगा ।

समा० —यहट्टिप्पणी से उद्धृत भाव तो अन्यथा है, ऋषि की शब्दावली इस प्रकार है "जो हम लोगों के शब्द हैं वे तो कार्य हैं। हम लोगों का ज्ञान और तत्सहकृत-क्रिया अनित्य ही है । ज्ञान के बिना तो भावस्फुरण होता नहीं, और भावस्फुरण के बिना शब्द उच्चारित नहीं होते तथा यह स्फुरण स्वज्ञात

ज्ञानं विना भाव-स्फुरणम् भवति। न तदभावे शब्दाः उच्चार्यन्ते। भावस्फुरणं च स्वात्मजमेव, तद्धि ज्ञानं स्वार्जितं, नैमित्तिकं, यदृच्छाजन्यं वा स्यात्, तज्जन्या च शब्दोच्चारण-रूपा क्रियाप्यनित्या भवति। तेन रामायणादीनां शब्दाः अस्मदादीनां चानित्य-क्रियाजनिताः अनित्या एव सन्ति। वस्तुतस्तु अजन्याः शब्दाः आकाशगुणकाः समेऽपि नित्याः कूटस्था एव।

(पू. प.) किञ्च "परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थ-सम्बन्धाः इत्यपि असङ्गतम्, गोतमादिरीत्या शब्दानामाकाशाश्रयत्वेन ज्ञानाश्रयत्वानभ्युपगमात्। ज्ञान-शब्दयोरुभयोरपि गुणत्वेन गुणे गुणाऽनङ्गीकारात्। अर्थस्याऽपि न ज्ञानाश्रयत्वं सम्भवति, गुणस्य द्रव्याश्रयत्वाऽसम्भवात्। सम्बन्धस्य तु सुतरां तदनुपपत्तिः। सम्बन्धस्य सम्बन्ध्याश्रयत्व-प्रसिद्धेः।

(उ. प.) इदं तु सम्यगेव यन्न ज्ञानशब्दयोराधाराधेय-सम्बन्धः सम्भवति, द्वयोरपि गुणत्वात्, परमत्रभवतां निजमतं किं वर्त्तते इति तु नालेखीद्भवान्। अर्थञ्चापि द्रव्यत्वेन लिखितवान्। एवमेतेन आयातं यल्लोकेऽपि शब्दार्थसम्बन्धाः नैव प्रतिपादयितुं शक्यन्ते, लोके

है। वह ज्ञान स्वार्जित, नैमित्तिक अथवा यदृच्छाजन्य जैसा भी है, तज्जन्य शब्दोच्चारण रूप क्रिया भी अनित्य होती है। इससे सिद्ध है कि रामायण का तथा हम लोगों का ज्ञान भी अनित्य है, अनित्य-क्रिया-जन्य शब्द भी अनित्य होंगे। निष्कर्ष यह है कि ध्वनि अनित्य है और अजन्य आकाशगुणक सभी शब्द कूटस्थ और नित्य हैं।

पू० प०—'और परमात्मा के ज्ञान में स्थित शब्द, अर्थ और सम्बन्ध नित्य हैं, यह ऋषि दयानन्द का कथन भी असङ्गत है, गोतम आदि की रीति से शब्दों का आश्रय आकाश होने से, उसमें ज्ञान का आश्रयत्व नहीं माना गया है; क्योंकि ज्ञान और शब्द दोनों गुण हैं और गुण में गुण रह नहीं सकता।

(पू. प.) अर्थ का भी ज्ञानाश्रयत्व सम्भव नहीं, क्योंकि गुण का द्रव्य के-आश्रय होना भी सम्भव नहीं। सम्बन्ध की तो फिर स्वतः ही अनुपपन्नता होगी। क्योंकि सम्बन्ध का सम्बन्धी के आश्रित रहना प्रसिद्ध ही है।

उ० प०—यह तो ठीक ही है कि ज्ञान और शब्द का आधार आधेय

त्वदारोपस्य सुघटत्वात्। एवं भवान् ब्रवीतु यत् भवत्प्रयुक्त-शब्दार्थ-सम्बन्धाः ज्ञानाश्रिताः, उताहो ज्ञानं तदाश्रितम्, नोभयथाऽपि सम्भवति, भवदुद्भावित-दोषाऽऽधायकत्वात्, परं ईश्वर-ज्ञाने तु वागुरिकयाऽलम्।

सम्प्रति बोधयतु भवान् यत् परमेश्वरे ज्ञानं तिष्ठति न वा? तिष्ठति चेज्जीवात्मनामनुग्रहायैव, न स्वोपयोगाय, तस्य निरीहत्वात्, तस्य ज्ञानं च शब्दार्थ-सम्बन्धमयमेव, यतो हि परावाणी-स्थिति-ज्ञाने वाणी तद्रूपेणैव समाहिता भवति। तज्ज्ञानं च ऋषीणामन्तःकरणेषु संक्रमणानन्तरं तात्वादि-साधनं प्राप्य आकाशगुणक-शब्दत्वेन प्रकटीभवति। तत्त्वतोऽर्थः परमात्मस्थः ज्ञानरूपमेव न तु द्रव्यम्। किञ्च भवद्वचोऽत्राऽप्रमाणम्, यतो हि आकाश-समवेत-शब्दः परम्परया ईश्वरेऽपि समवेतः। गगने यः समवेतो ना ऽसौ ब्रह्मणीति वक्तुं को नाम बालिश उत्सहेत? एवम् ईश्वर-ज्ञानस्य तत्र समवेतत्वे च ऋषीणां हृदयेषु सङ्क्रमण-सम्भव इत्यपि बालालपितमिव, अग्न्यादेरौष्ण्यादेर्जलादिष्वपि सङ्क्रमणस्य सर्वैः प्रत्यक्षानुभवात्।

सम्बन्ध नहीं, क्योंकि दोनों गुण हैं, पर इस सारे प्रसङ्ग में विभिन्न मत देते हुये आपने निज-मत नहीं लिखा कि वह क्या है? इधर अर्थ को भी द्रव्य माना है। इस प्रकार इससे यह सार निकला कि लोक में भी शब्दार्थ-सम्बन्ध प्रतिपादित नहीं किये जा सकते, क्योंकि आपके कथित सब आरोप लोक में भी घटित होंगे। अच्छा, अब आप यह बताइये कि आपके प्रयुक्त शब्दार्थ सम्बन्ध ज्ञान के आश्रित हैं या कि ज्ञान उनके आश्रित है, दोनों प्रकार भी सम्भव नहीं, क्योंकि आपके उद्भावित दोष इसमें सभी होंगे। महोदय! पर ईश्वर के ज्ञान वेद में आपका यह वाग्जाल घटित नहीं हो सकता; क्यों उसके शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य हैं।

अब आप यह भी बताइये कि परमेश्वर में ज्ञान रहता है या नहीं? रहता है तो जीवों के अनुग्रहार्थ ही रहता है, स्वयं के लिये कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह निरीह है। उस ईश्वर का वह ज्ञान शब्दार्थ सम्बन्धमय ही है। क्योंकि परावाणी की स्थिति में वाणी ज्ञान रूप में समाहित होती है, उसका व्यवच्छेद नहीं किया जा सकता। जब वह ज्ञान ऋषियों के अन्तः करण में संक्रान्त हो जाता है, तब ताल्वादिसाधन को प्राप्त करके आकाश

यच्चोक्तं "भाट्टरीत्या शब्दस्य द्रव्यत्वेऽपि न ज्ञानाश्रयत्वं सम्भवति, गुणस्य द्रव्यानाश्रयादेवेति" अत्र हिन्दीकारः कथयति "शब्द को द्रव्य मानने पर भी वह ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि गुण द्रव्य का आश्रय नहीं होता।" अत्रैतद् विचारणीयं यत् भाट्टरीत्या मतेऽपि-शब्दे द्रव्ये, ज्ञानं त्वन्मते द्रव्यं गुणो वा ? यदि तावद् द्रव्यं, तदा हेतुरयं गुणस्य द्रव्यानाश्रयादित्यनुपपन्नः। चेद्गुणस्तदाऽपि नोपपद्यते हेतुविरुद्धोपन्यासाद्। यदा हि ज्ञानस्य गुणत्वं, शब्दस्य च द्रव्यत्वमिह त्वया उपपादितं, तदा ज्ञानस्य आश्रयः कथं न शब्दः स्यात् क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणत्वात्। स्वयं कीदृशो बुद्धिभ्रम उभयोः, अथवा भवानेव भाट्टादिविभिन्नमतभ्रमाब्धौ भ्रान्तो ब्रुडति समुच्छलति च पदे पदे, अनिश्चित-राद्धान्तत्वात्। भवतो भिक्षुकस्य प्रतिपदम् अनियन्त्रितगतिस्खलितायामस्थानप्रयुक्तायां भवद्वाण्यां कविवरस्य भिक्षाऽनस्य इयमुक्तिः सङ्घटते इह—

गुणक शब्द रूप में प्रकट होता है, तत्वतः अर्थ परमात्मा के ज्ञान में स्थित ज्ञानरूप ही है द्रव्य नहीं है।

तथा आप का कथन यहाँ प्रामाणिक नहीं क्यों कि आकाश-समवेत शब्द भी परम्परया ईश्वर-समवेत है ही। गगन में जो समवेत तो हैं, पर वह ईश्वर में समवेत नहीं है, यह तो कोई बालिश ही कह सकता है। इस प्रकार ईश्वर में समवेत होने पर ऋषियों के हृदय में उस ज्ञान का संक्रमण नहीं हो सकता, यह, बाल-कथन प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है। हम देखते हैं कि अग्नि के स्वाभाविक गुण उष्णता आदि जल में संक्रान्त होते हैं।

यह कहना कि भाट्ट रीति से शब्द का द्रव्यत्व मान लिया जावे, तब भी वह (शब्द) ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि गुण द्रव्य का आश्रय नहीं हो सकता।"

यहाँ पर आपके हिन्दीकार को यह लिखना चाहिए था कि शब्द (द्रव्य) का आश्रय ज्ञान (गुण) नहीं हो सकता। जबकि भाट्ट-रीति से शब्द का द्रव्यत्व आपने स्वीकार कर लिया और ज्ञान का गुणत्व भी आपको अभीष्ट है न कि द्रव्यत्व, क्योंकि ज्ञान के द्रव्यत्व की स्वीकृति में 'गुणस्य द्रव्यानाश्रयत्वात्? यह हेतु अनुपपन्न होगा।

अस्थानगामिभिरलङ्करणैरुपेता,
भूयः पदस्खलननिह्नुतिरप्रसन्ना।
वाणीव काऽपि कुकवेर्जनहास्यमाना,
द्राङ् निर्गता निजगृहाद् वनिता मदान्धा॥

भवतामयं तर्कस्तु विद्वत्प्रदर्शन्यामुपस्थापयितव्यो यद् "विषयता-सम्बन्धस्य वृत्तिताऽनियामकत्वात् परमेश्वरस्य सर्व-विषयकत्वेन कार्यत्वेनाभिमतानामपि नित्यत्वापत्तिः।" (पृ. ५१३ पं. १)

इह प्रथमं तु भवता इदमेव विवेच्यं यदेष सम्बन्धो नियामको भवति अनियामको वा, हिन्दीकारेण त्वदनभिमतनियामकत्वाभिमननात्। अपरं चेदमपि पर्यालोच्यं यद् विषयता-सम्बन्धेन शब्दस्य ज्ञानाश्रयतायाः मन्तव्यत्वे जीवात्मनः अल्प-विषयकत्वेन नित्यत्वेनाऽभिमतानामपि किमनित्यत्वापत्तिःस्यात्? तत्त्वतो नित्यत्वाऽनित्यत्व-निर्धारणे सर्वज्ञस्य अल्पज्ञस्य वा ज्ञातृत्वं न हेतुः सम्भवति।

गुण मानने पर हिन्दीकार के इस कथन में वह शब्द ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि गुण द्रव्य का आश्रय नहीं होता, यहाँ विपरीत रूप में हेतु प्रस्तुत है, जबकि आपके द्वारा द्रव्य मानने पर शब्द ज्ञान का आश्रय घटित हो रहा है, क्योंकि 'क्रिया गुणवत् समवायिकारण, द्रव्य का लक्षण है। यहां पर आप और आपके हिन्दीकार दोनों का कैसा बुद्धि का दिवालिया पन है। अथवा आप ही भाट्टादि विभिन्न मतों के भ्रम-समुद्र में पद-पद पर डूबते और उछलते हैं, क्योंकि आपका कोई निश्चित सिद्धान्त ही नहीं है।

यहां प्रतिपद पर अनियन्त्रित रूप से स्खलित अस्थान पर प्रयुक्त आपकी वाणी पर कवि भिक्षाटन की यह उक्ति ठीक घटित हो रही है कि—अनियत स्थानों पर पहने अलङ्करणों से युक्त, पदस्खलन का बहाना लेकर सुकवि की अप्रसन्न वाणी के समान अपने घर से जल्दी से निकल गई मदान्धवनिता (स्त्री) अब जनों का उपहास-पात्र बन रही है।

आपका यह तर्क तो विद्वानों की प्रदर्शनी में प्रस्तुत करने योग्य है, शब्द को ज्ञानाश्रय मानने पर परमेश्वर ज्ञान के सर्व विषयक होने से अनित्य पदार्थों की भी नित्यता माननी पड़ जायेगी" (पृ० ५१३ पं. १)-यहां प्रथम तो यही विवेच्य हैं कि यह सम्बन्ध, वृत्तिता का अनियामक होता है या नियामक? आप अनियामक मानते हैं और आपके हिन्दीकार नियामक मान रहे हैं।

(पू. प.) "यस्य ज्ञान-क्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः इत्यत्र स्वभाव-सिद्धे अनादीति द्वयमपि व्यर्थम् नित्य इत्यनेनैव समीहित-सिद्धेः।"

(उ० प्र०) इदमेव कुशलं जातं यद्भवतो बुद्धिकर्त्तरी एतद्भावात्मिकां (न तस्य कार्यमित्यादि···) श्वेताश्वतरशब्दावलीमेव नाऽच्छिनत्। तत्रापि भवता इदमेव वक्तव्यमासीद् यद् यदेश्वरस्य स्वयं नित्यत्वं प्रोक्तं तदा तस्य ज्ञानबलक्रियाणां पृथक्त्वेन नित्यत्व-कथनं व्यर्थमिति।

वस्तुतो यत् पदद्वयविशेषणनैरर्थक्यं भवानाह, तन्न युक्तं, इह विशेषणानां विशिष्टार्थ-प्रतिपादकत्वे सार्थक्यात्। तथा हि :- नित्य इति वचनेन नश्वरताऽभाव आख्यायते 'अनादी' इत्यनेन तु आदिराहित्यं व्याख्यायते, प्रध्वंसाऽभावेऽपि नित्यत्वातिव्याप्तिस्तद्वारणाय 'अनादी' इति विशेषणम्। एतदभावस्य (प्रध्वंसाभावस्य) नित्यत्वेऽपि सादित्वेनाऽनादित्वाऽभावः अतस्तद्वारणाय अनादी इति पदं सार्थकम् "स्वभाव सिद्धे" इति पदेनेह स्वभावतः स्व सत्तात्मकतया सिद्धताऽभीष्टा, अत्यन्ताऽभावे नित्यत्वमनादित्वञ्चेत्युभयमपि विद्यते, पर न स्वभाव-सिद्धत्वं तस्य अभावात्मकत्वात्। अतस्तद्वारणाय -स्वभाव सिद्धे' इति विशेषणं सार्थकम्।

तदेवं महर्षि-वचसा उद्दण्डदण्डिमण्डलमण्डनायमानस्य भवतः पाण्डित्य-पाखण्डमखण्डं खण्डितम्।

महाशय! ऋषिणा तु अत्र नित्यत्वमेतत् शब्दद्वयेन भवादृशां परिमुह्यमानान्तःकरणानां स्थूलधियां कृते व्याख्यातम्।

यदुक्तं "परं न शक्तिजनितेषु वेदेषु नित्यत्वं सिध्यति, तच्छक्तिजनितप्रपञ्चेष्वपि तदापातात्"। इति तु अविचारोक्तिरेव भवतः। परमात्मनः शक्त्या स्व-ज्ञानस्य अपरिणामिनो वेद-रूपेण प्रकाशितत्वात्। प्रपञ्चस्य च परिणामि-प्रकृतेः जनितत्वान्न परिणामि प्रपञ्चेषु नित्यत्वाऽऽपातः।

दूसरा यह भी पर्यालोच्य है कि विषयता-सम्बन्ध से शब्द की ज्ञानाश्रयता मानने पर जीवात्मा के ज्ञान के अल्प-विषयक होने से नित्यत्व से अभिमत ईश्वरादि की भी क्या अनित्यत्वापत्ति आ जायेगी? तत्त्वतः नित्यत्व या अनित्यत्व के निधारण में सर्वज्ञ या अल्पज्ञ की ज्ञातता हेतु नहीं बन सकती।

पू० प०—"जिसकी ज्ञान और क्रिया नित्य, स्वभावसिद्ध और अनादि हैं" इस वाक्य में नित्य पद से ही भूमिकाकार का काम चल चल जायेगा फिर "स्वभाव सिद्ध और अनादि" ये दो विशेषण क्यों बढ़ा दिये। उ० प०—श्रीमान् जी! यहां यही कुशल हो गयी कि आपकी बुद्धि की कुतर्क कर्त्तरी (कैंची) श्वेताश्वर के ऋषि पर नहीं चली, नहीं तो "पराऽस्यशक्तिः यहां पर भी आपके मत से जो ईश्वर स्वयं नित्य है उसके ज्ञान, बल और क्रिया भी नित्य होंगे, फिर पृथक् से ज्ञानादि का पाठ भी व्यथ है अथवा ऐसा कहिये कि ज्ञान (शब्द) पाठ ही पर्याप्त था, ज्ञानके बल और क्रियारूप होने का बोध स्वयं ही हो जाता, इनका पाठ भी व्यर्थ है।

नित्य इस वचन से नश्वरता का अभाव व्याख्यात है और अनादि' शब्द से आदि (प्रारम्भ) का अभाव व्याख्यात है, केवल (नित्य) कहने पर प्रध्वंसाभाव का नित्यत्व सादि हैं, अनादि नहीं, अत: उसके निवारण के लिये 'अनादि पद दिया है। स्वभावसिद्ध का अर्थ है, अपने भाव (सत्ता) से सिद्ध हैं। अत्यन्ताभाव नित्य और अनादि होते हुये भी अपने भाव से सिद्ध नहीं, क्योंकि यह अभावात्मक है। अत: 'अत्यन्ताभाव' में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये 'स्वभावसिद्ध' विशेषण रक्खा है।

इस प्रकार महर्षि के वचन से ऊपर को दण्ड उठाये हुये दण्डि मण्डल के मण्डन स्वरूप आपका अखण्ड-मत-पाखण्ड खण्डित हो गया।

महाशय! यहाँ अव्याख्यात का ज्ञान तो प्रतिभाशालियों के लिए ही हो सकता है। आप सदृश परिमुह्यमान अन्तःकरण वाले स्थूल बुद्धियों के लिये तो सम्भव नहीं। पूर्व ऋषियों की भांति ऋषि दयानन्द ने भी सुगमतया बोधनार्थ 'अनादि और' स्वाभावसिद्धे' इन दो पदों से और भी स्पष्ट कर दिया।

"शक्तिजनित वेदों की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उसकी शक्ति से जनित प्रपञ्च में भी नित्यत्व मानना पड़ेगा" यह आपका कथन समझदारी का नहीं, क्योंकि परमात्मा ने अपनी अपरिणामिनी शक्ति से अपरिणामी अपना ज्ञान वेदरूप में प्रकाशित किया है, परन्तु यह परिणामी प्रपञ्च उपादान-भूत परिणामिनी प्रकृति से उत्पन्न है।

(पृ० ५१३ पं० ८)-(आक्षे०) 'विद्या-मयत्वेन, हेतुना वेदस्य नित्यत्वं सिषाधयिषितं तदपि निरर्थकम् ।'

(समा०) तदिदं निरर्थक-कथनमेव निरर्थकं, भवतः । विद्यामयत्वस्य तस्येश्वरस्य सामर्थ्यात् । भवता तु छलेन वाक्यार्थो विपर्यस्तः। इह तदिति शब्देन अयमेवार्थो यत् 'तत्' तस्मात् सर्व-सामर्थ्यस्य नित्यरूपाद् हेतोरिति यावत् ।

अपि चेदमतितरां अपास्पदं यद् "ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकायां, तु "तद् विद्यामयत्वाद् वेदानामनित्यत्वं नैव घटते" इत्यस्माद् वाक्यात्पूर्वं विराम-चिह्नमस्ति, परं भवता, तद्विद्यामयत्वादित्यस्यानन्तरं विरामो धृतः, विपरीत कल्पना-करणोदिष्टत्वात् इति ।"

(पृ० ५१४ पं० ६-८) (पू. प.) यदुक्तं "यदि तु प्रलये स्थूलरूपेणाऽवर्त्तमानामपि वेदानां सूक्ष्मरूपेण विद्यमानत्वान्नित्यत्वमित्युच्येत, तदा सत्कार्यवाद-रीत्या सर्वस्यैव जगतः सूक्ष्म-रूपेण विद्यमानत्वान्नित्यत्वेन, वेद-नित्यत्वे (तु) वैशेष्यानुपपत्तिः"

(पृ० ५१३ पं० ८) — आक्षेप— स्वामी दयानन्द ने विद्यामयत्व हेतु से वेद का नित्यत्व सिद्ध करना चाहा है, यह निरर्थक है ।

समा०—यहाँ आपका कथन ही निरर्थक है । विद्यामयत्व उस ईश्वर की सामर्थ्य है और उसकी सामर्थ्य नित्य होती है । आपने छल से यह उलट दिया, वाक्य का अभिप्राय: वैसा नहीं । यहाँ तत् इस शब्द से लिया हुआ देखिये "इसलिये ऊपर प्रस्तुत शब्द-सामर्थ्य के नित्यत्व रूप हेतु से वेद सर्व विद्या-मय है ।" अतः आपकी 'क्वचित्' से आगे की समस्त कपोल-कल्पना कुतर्क की दौड़ ही है ।

सबसे बड़ी लज्जाजनक बात यह है कि 'ऋषि भूमिका में "तद्विद्यामयत्वाद्" इत्यादि वाक्य से पूर्व विराम है परन्तु श्री करपात्री जी ने उसे वहाँ से उड़ा दिया और विद्यामयत्व के बाद लाकर रख दिया । यह जघन्य कृत्य विपरीत कल्पना करने में सहायक होगा, इस उद्देश्य से किया गया ।'

(पृ० ५१४ प० ६-८) पू० प०—यह कथन कि 'प्रलय में स्थूल रूप से अविद्यमान वेदों के सूक्ष्मरूपेण विद्यमान होने से नित्यत्य कहना चाहिये, तब सत्कार्यवाद की रीति से सारे ही जगत् के सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहने से नित्यता हो जायेगी फिर वेदों के नित्यत्व में किसी विशेषता की तो अनुत्पत्ति ही रही ।

(उ० प०) तन्न युक्तम् "उपादानरूपायाः प्रकृतेः परिणामित्वात्तज्जन्यस्य कार्य-जगतः संयोगस्य वियोगात् तदनित्यतैव । वेदानां तु ईश्वरस्य ज्ञानरूपगुणत्वान्निरवयवत्वाच्च नित्यताऽप्रतिहतैव ।

सत्कार्यवादस्तु प्रकृति-जन्यजगत्येव संघटते, यथा सत्कार्यवाद इति शब्देनैव ध्वन्यते यज्जन्यं कार्यमुपादानरूपे स्व-कारणे तद्रूपेणैव तिष्ठति स सत्कार्यवादः, वेदास्तु न कार्याः । न चैतेषामुपादान-कारणमतस्ते सत्कार्यवादो ना ऽत्र संगच्छते ।

ननु यदि वेदानां सर्वदा-विद्यमानत्वं तदा तदुत्पत्तिकथनस्य वैयर्थ्यम्, 'स्वविद्यातः सृष्टत्वादितिवचन'-विरोधोऽपि, इति चेन्न, इहोत्पत्तेरभिप्रायस्तु मीमांसाशास्त्रदृशा एवमवधार्यः 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरिक्तश्चार्थेऽनुपलब्धेः तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्'' (मी० १।१।५) अत्र शावरभाष्यं यथा औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः । उत्पत्ति हि भाव उच्यते लक्षणया ।

उत्तर पक्ष—यह कथन ठीक नहीं, उपादान रूप प्रकृति के परिणामी होने से प्रकृति-जन्य कार्य जगत् के संयोग का वियोजन हो जाने से जगत् की अनित्यता है । वेदों के ईश्वरीय ज्ञान रूप गुण होने तथा निरवयव होने से नित्यता है यही विशेषता है ।

सत्कार्यवाद तो प्रकृति से जन्य कार्य जगत् में ही घटित होता है जैसा कि इस से ही ध्वनित हो रहा है कि जो कार्य रूप में आकर अपने उपादान रूप कारण में तद्रूप से रहे, किन्तु वेद तो इस प्रकार कार्य नहीं हैं और न कोई इनका उपादान कारण है अतः सत्कार्यवाद प्रसङ्ग यहाँ सङ्गत नहीं है ।

पूर्वपक्ष—"यदि वेद सर्वदा विद्यमान हैं, तो उनकी उत्पत्ति का कथन व्यर्थ है और अपनी विद्या से सृष्ट हैं इस कथन से भी विरोध है ।

उत्तरपक्ष—यहाँ पर उत्पत्ति से अभिप्राय मीमांसा के दृष्टिकोण से यही समझना चाहिए "कि वेद वाक्य में स्थित प्रत्येक पद का अपने-अपने अर्थ के साथ स्वाभाविक अर्थात् नित्य सम्बन्ध है । इसी से वह पूर्वोक्त धर्म के यथार्थ ज्ञान का साधन है, क्योंकि ईश्वर की ओर से उसका उपदेश हुआ है और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जो अर्थ उपलब्ध नहीं होता उसमें उसका व्यतिरेक नहीं दीखता । वादरायण आचार्य के मत में वह वाक्य अपने धर्म की सत्यता के लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा न रखने से धर्म में स्वतः

अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धः, नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः। औत्पत्तिकः शब्दस्यार्थे सम्बन्धः, इत्यतो वेदानां नित्यत्वे तदुत्पत्तौ च न कश्चन विरोधः।

(पृ० ५१४ पं० ८) (पू० प०) 'अस्मत्क्रियापक्षे' इत्यत्र क्रिया पदे नोत्क्षेणावक्षेपणादिकं विवक्ष्यते, प्रलयापरपर्यायाकृतिर्वा ?

(उ. प.) किमुत्क्षेपणादि-क्रिया न प्रयत्नः ? भवता कृतिप्रलययोर्न कश्चन भेदः प्रतिपादितः। 'ईश्वरस्य क्रियायां न प्रमाण' मिति तु मिथ्यालाप एव, यतो हि स्वयमपि "स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया चेति समुद्धृतेऽपि प्रमाणे परमेश्वरस्य क्रियामात्रनित्यतां न मनुते, स्वाभाविकीति विशेषणोपस्थापनात् किं स्वाभाविक-क्रियाया अभावे परमात्मनः कस्याश्चिदन्यस्याः क्रियाया अपि सम्भावना ? न, तदसम्भवात्। यत्र हि परमेशक्रिया परिणामिप्रकृतिं चेष्टयते, तत्प्रकृत्युत्पन्नस्यैव वस्तुनोऽनित्यत्वं परं चेष्टादान-क्रिया तु तस्य नित्या स्वाभाविकी चैव।

प्रमाण है। उत्पत्ति का अर्थ भाग या सत्ता है, वेद के शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अवियुक्त रहता है। उत्पन्न होने के बाद सम्बन्ध होता है ऐसी बात नहीं यह सम्बन्ध स्वाभाविक है। उसका ज्ञान कभी विपरीत नहीं होता ऐसा शबर स्वामी का भी आशय है, अतः उत्पत्ति शब्द का अभीष्टार्थ ज्ञान होने पर कोई विरोधोक्ति नहीं है।

पूर्वपक्ष—"अस्मत्क्रिया पक्षे" यहां पर क्रिया शब्द से उत्क्षेपण अवक्षेपणादि अपेक्षित है याकि प्रयत्न-वाचक कृति अपेक्षित है। समा०—'क्या उत्क्षेपणादि क्रिया प्रयत्न नहीं है ? आपने क्रिया और प्रयत्न में भेद स्पष्ट नहीं किया "ईश्वर की क्रिया में प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया।" यह कथन मिथ्यालाप है।

आप भी "स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च" से ईश्वर की किसी विशेष क्रिया को ही नित्य मानते हैं। आपका कहना है कि ईश्वर की प्रत्येक क्रिया नित्य नहीं, अन्यथा "स्वाभाविकी" यह विशेषण व्यर्थ हो जायेगा। यह आपका अज्ञान मात्र है, क्योंकि ईश्वर की तो सभी क्रियायें स्वाभाविकी ही होंगी, इससे भिन्न प्रकार उससे किसी क्रिया का होना संभव नहीं। जहां पर परमेश्वर की क्रिया परिणामिनी प्रकृति को चेष्टा देती है वहां उस प्रकृति (उपादान) से उत्पन्न वस्तु की अनित्यता है, पर वह चेष्टा देने की क्रिया तो

(५१४ पं. १४) किञ्च "तथा च प्रमाणान्तरेण साध्याभावनिश्चयात् बाध एव ज्ञेय" इत्यनेनाऽपि भवतो न्याय-शास्त्रानभिज्ञत्वमेव द्योत्यते।" नाऽत्र बाधो भवत्प्रज्ञाबाधादन्यः, यतो यस्य साध्याऽभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स हि बाधितो भवति, यथा वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात् अत्रानुष्णत्वं बह्नौ साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पर्शेन प्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधतत्वं, प्रकृते तु वेदानां नित्यत्वं न केनाऽपि प्रमाणान्तरेण बाधितम्।

(पृ. ५१४ पं. १५,१६) यच्चोक्तं "परमेश्वरस्य विद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं मन्यामहे।" अत्रानुमाने भवतः स्वरूपासिद्धि-दूषण-प्रस्तावना अज्ञानमूलैव।

अत्रेदमवधेयं यत् स्वरूपासिद्धौ हेत्वभाववान् पक्षो भवति, यथा-शब्दो नित्यः, चाक्षुषत्वात्, रूपवदिति। अत्र चाक्षुषत्वं पक्षे

नित्य एवं स्वाभाविक है, अतः आपका बाध का कथन अज्ञान मात्र है। केवल आपकी प्रज्ञाबाध के अतिरिक्त अन्य कोई बाध नहीं, क्योंकि जिसका साध्याभाव प्रमाणान्तर से निश्चित है वह बाधित कहलाता है जैसे बह्नि अनुष्ण है द्रव्य होने से, यहां बह्नि में अनुणत्व साध्य उसका अभाव उष्णत्व स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष ही ग्रहीत है, परन्तु प्रकृति में तो वेदों का नित्यत्व किसी प्रमाणान्तर से बाधित नहीं है।

(पृ. ५१४ पं. १५,१६,) "परमेश्वर के सर्वविद्यामयत्व से वेदों का नित्यत्व हम मानते हैं।" इस अनुमान में करपात्री जी का कथन है कि यहां स्वरूपासिद्ध दोष है। यह भी इनका अज्ञान ही है, क्योंकि स्वरूपासिद्ध का लक्षण है पक्ष में हेतु का अभाव अर्थात् पक्ष में साध्य के अभाव से ही यह दोष होता है। जिस प्रकार शब्द नित्य या अनित्य है चाक्षुष होने से रूप के समान। यहां पर चाक्षुषत्व हेतु पक्ष में घटित नहीं क्योंकि शब्द श्रवण का विषय है। ऐसे ही प्रकृत में वेद नित्य है ईश्वर की विद्या होने से यहां वेद पक्ष में नित्यत्व साध्य है और नित्यत्व हेतु पूर्णतया घटित है अतः स्वरूपासिद्ध दोष बिल्कुल नहीं है, प्रत्युत ऐसा कहने सेआप ही निरनुयोज्यानुयोग निग्रह स्थान में आ पड़ते हैं।

(आक्षेप) "एक बात और भी है कि वादी और प्रतिवादी के सम्मत हेतु से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है, एक के द्वारा स्वीकृति से नहीं, ईश्वर

नास्ति शब्दस्य श्रवण-विषयत्वात् । प्रकृते च वेदो नित्यः ईश्वरस्य विद्यावत्त्वात् । अत्र विद्यावत्त्वं हेतुः, पक्षो वेदः, नित्यत्वं साध्यम् । तदा हेतोः पूर्णतया संघटनात् नास्ति स्वरूपाऽसिद्धि-दूषणं, प्रत्युत भवानेवाऽत्र निरनुयोज्यानुयोग-नामके निग्रह-स्थाने निगडितः ।

(आक्षे०) "किञ्च वादिप्रतिवाद्युभय-सम्मतस्यैव हेतोः साध्य-साधकत्वं नान्यतराऽसिद्धस्य । वेदस्येश्वरविद्यामयत्वं नोभय-सम्मतम् ।" (समा.) उभयसम्मतस्यैव हेतोः साध्य-साधकत्वम् इत्यपि भवद्हेतुर्यावन्न मम सम्मतस्तावत्कथं ग्राह्यः ? न च क्वापि साध्यस्य साधनाय हेतुरेवं परिभाषितः । अतोऽमान्यमिदं भवद्वचनं मानाऽभावात् ।

ननु भवदुक्तहेतोरेव लक्षणस्याङ्गीकारे काऽऽपत्तिरिति चेन्न, तथा सति सर्वविषयस्याऽनिर्णयत्व-प्रसक्तेः । यथा-ईश्वरः कर्त्ता, सृष्टेः क्रियमाणत्वात् अयं हेतुर्न तावन्नास्तिक-सम्मतः । तदा ईश्वराऽसिद्धे-रापातः । प्रकृते च ईश्वरस्य विद्यामयता-हेतुः, भवता न स्वीकृतः, यावता शङ्कराचार्येणाभ्युपगतः 'शास्त्रयोनित्वादिति सूत्र-भाष्ये ।

की विद्यामयता आप के द्वारा सम्मत नहीं है, अतः इस अनुमानमें स्वरूपा-सिद्धि दोष है ।

समा०—दोनों का सम्भव हेतु ही साध्य का साधक होता है यह भी आपका हेतु स्वकल्पित है । आपकी ही युक्ति से जब तक आपका यह दिया हुआ हेतु मेरा सम्मत नहीं है, तब तक कैसे मान्य होगा ? कहीं पर भी साध्य की साधना के लिये हेतु की यह परिभाषा नहीं दी गई । अतः यह अप्रामाणिक और अमान्य है ।

यदि कहा जाये, कि आपके ही हेतु लक्षण को स्वीकार करने में क्या हानि है ? तो यह भी ठीक नहीं, वैसा मानने पर उभय सम्मत हेतु के अभाव में सभी विषय अनिर्णीत रहेंगे । जैसे ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है, क्योंकि सृष्टि क्रियमाण है । यह हेतु नास्तिक को कदापि स्वीकृत नहीं है, तब तो ईश्वर की सदा असिद्धि ही बनी रहेगी, जब तक कि हेतु उभय सम्मत नहीं हो जावे । प्रकृत विषय में आपको ईश्वर की विद्यामयता स्वीकृत नहीं अतः वेदों का नित्यत्व कदापि सिद्ध न हो सकेगा । किन्तु ईश्वर की सर्वविद्यावता 'शास्त्र योनित्वात्' (वे० १।१।३) आदि प्रमाणों से आचार्य शंकरआदि के द्वारा स्वीकार की गई है ।

(पृ० ५१५ पं० १) (प्रश्नः) "वेदानामीश्वरविद्यामयत्वं इत्यत्र 'विद्या' शब्दरूपा ज्ञानरूपा वा ? मयट्प्रत्ययः प्राचुर्यार्थकः स्वार्थार्थो विकारार्थको वा ?"

(उत्त०) 'वेदानामीश्वरविद्यामयत्वम्' अत्र 'विद्या' शब्दार्थ-सम्बन्धमयी ज्ञानरूपा एव । इह 'तत्प्रकृतवचनेमयट्' (अष्टा० ५।४।२१) इत्यनेन प्राचुर्येऽर्थे मयट्प्रत्ययो जायते, न तु 'मयड्वैतयोर्भाषायाम्' (४।३।१४३) इत्यनेन विकारे अवयवे वा । शब्दार्थकाद् विद्याशब्दा-दिति विशिष्यमाणाद् विधाने नानिवार्यता मयटः, यदि कथञ्चिन्म-न्येताऽपि, तदाऽस्य नैवार्थो यद् 'ईश्वरीय-शब्द-बाहुल्य-विशिष्टो वेद इति ।

ननु अन्न-प्रचुरो याग इत्युक्तौ यागे अन्नातिरिक्तघृतादि-विशि-ष्टत्ववद् इहापि वाच्यमिति चेन्न, 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (वेदा. १।१।१३) इत्यत्र यथा "आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वाद्यारभ्योत्तर-स्मिन्उत्तरस्मिन् स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्याति-

---

(पृ० ५१५ पं०१) प्रश्न—"वेदानामीश्वरविद्यामयत्व" यहाँ विद्या शब्दरूपा है या ज्ञानरूपा ! एवम् "मयट्" प्रत्यय प्राचुर्यार्थ में है या स्वार्थ में ? अथवा विकारार्थ में है ?

उत्तर—यहाँ पर 'विद्या' नित्यशब्दार्थ सम्बन्धमयी ज्ञानरूपा है, तथा 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इस सूत्र से प्राचुर्यार्थ में 'मयट्' प्रत्यय हो जाता है । 'मयड्वैतयो-।, पा० ४।३।१४३। इस सूत्र से विकार या अवयव अर्थ में विशिष्यमाण शब्दार्थक विद्या शब्द से 'मयट्' के विधान की अनिवार्यता शब्दार्थक 'विद्या' शब्द से प्रतीत नहीं होती । यदि कथञ्चित् यह मान भी ली जाये तो भी इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि ईश्वरीय-शब्द-बाहुल्य-विशिष्ट वेद हैं ।

यदि यह कहा जावे कि, अन्नप्रचुर याग कहने पर, अन्नातिरिक्त घृतादि विशिष्ट की प्रतीति की भाँति, वेद में भी ईश्वरीय शब्दातिरिक्त शब्द-वैशिष्ट्य सिद्ध होता है" यह ठीक नहीं, क्योंकि आनन्दमयोऽभ्यासात् (के० १।१।१२-१३ इन सूत्रों से जैसे मनुष्यत्व से आरम्भ कर उत्तरोत्तर, ब्रह्म का आनन्द प्राचुर्य शतगुणित है, इस शंकर भाष्य से ब्रह्मानन्द निरतिशय है,

शयत्वावधारणात् (शां. भा.)। तदेवम्अन्नप्रचुरोयागः' इत्यस्योक्त व्याख्यान-स्वीकारे तु आचार्यशङ्कस्य एतत्स्थलसङ्गत्यसम्भवत्वमेव।

यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति एष ह्येव आनन्दयाति इति यो हि आनन्दयति स प्रचुरानन्दः। यथा लोके यो ऽन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत् यो ह्युत्तरोत्तरं शतगुणो विद्यावान्, अन्येषामपि विद्यावत्त्वमापादयति स परमेश्वरो वेदो वा विद्यामयो भवतीति मूलवाक्यमृषेरसंदिग्धं शास्त्रीयं युक्तियुक्तं च।

अपि च प्राचुर्यार्थे मयटि प्रचुरेभ्यः ईश्वरीय-शब्देभ्योऽतिरिक्त-शब्दानामपि अल्पता-सद्भावः कथमपि नैव निवार्यते इति न वाच्यं प्राचुर्यकथनेन तु नैवान्यवस्तुसत्ता बोध्यतेऽपि तु तस्यैव प्रस्तुतस्य वस्तुनोऽल्पता निवार्यते। नैवान्येन प्रमाणेन च वेदे ईश्वरातिरिक्त-शब्दानां प्रामाण्यमुपपद्यते। अथवा स्वार्थेऽपि मयटि नानित्यत्वादि दोष-सम्भवः।

यही घोषित होता है। इस प्रकार 'अन्नप्रचुर-याग' इसके पूर्वोक्त व्याख्यान को माना जाये तो फिर शंकराचार्य के इस स्थल की संगति न हो सकेगी।

जिस कारण से ब्रह्म की आनन्द-हेतुता बताई है। (एष एवहि आनन्दयाति, जो आनन्दित करता है, वह प्रचुरानन्द है। जैसे लोक में जो अन्यों का धनिकत्व आपादित करता है, वह प्रचुरधन कहलाता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना-चाहिये। जो ईश्वर उत्तरोत्तर शतगुणित विद्यावान् है, वही विद्यामय है। औरों को भी ईश्वर और वेद विद्यावत्ता प्रदान करते हैं। विद्यामय शब्द के प्रयोग करने में ऋषि दयानन्द का महत्वपूर्ण और विशिष्ट तात्पर्य है।

तथा प्राचुर्य अर्थ में मयट् करने पर ईश्वर के प्रचुर शब्दो से अतिरिक्त शब्दों की भी अल्पता किसी प्रकार भी निवारित नहीं की जा सकती। यह ऐसा कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि प्राचुर्य कहने से तो अन्य वस्तु की सत्ता का तो बोध नहीं होता, अपितु उसी प्रस्तुत वस्तु की अल्पता का निवारण किया जाता है। और न अन्य किसी प्रमाण के द्वारा ही वेद में ईश्वर के अतिरिक्त शब्दों का प्रामाण्य उपपन्न है। अथवा (विद्यामयत्व) यहाँ स्वार्थ में भी मयट् करने पर भी अनित्यत्व आदि दोष नहीं आते।

वैदिक-शब्दानामीश्वरीयत्वं निर्मातृत्वञ्च पूर्वमेव समाहितम्।

न च 'प्रतिकल्पं वेदभेदापत्तिः स्यादितिवाच्यं, परमेश्वरानुग्रहाज्जगतःपूर्वकल्पसदृश-नामरूपात्मकोत्पन्नत्वात्।

(पृष्ठ ५१५ अनु० २) यच्चोच्यते "प्राचुर्यार्थे मयटि कृते परमेश्वरस्य स्वरूप-ज्ञानेन अन्तत्वानुपपत्तेः" इति।

हन्त! ईश्वरस्यान्तत्वोपपत्तये भवान्मयटः प्रयोजनमिह मन्यते, तदर्थं धन्यवादार्हा भवन्मतिः! ईश्वरस्यान्तत्वेष्टापत्यनुसंधान-प्रयत्नवत्वात्। पुस्तकरूप-वेदाः इति कथनं तु मांसल-प्रज्ञानामेवाभिनन्दनं भवितुमर्हम्।

प्रश्न :—ईश्वर-ज्ञानस्य वेदैः कीदृशः सम्बन्धः?

उत्तरम्—समवायसम्बन्धो गुणगुणिनोः समवायात्। नहि विषयता-सम्बन्धो यश्च भवतोद्भाव्यते यथा "यदि विषयता-सम्बन्ध

वैदिक शब्दों का ईश्वरीयत्व और निर्मातृत्व पूर्व कहा जा चुका है।

"प्रतिकल्प में उत्पन्न होने पर वेदों में भेद होगा" यह भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर के अनुग्रह से सम्पूर्ण जगत् के भी पूर्वकल्प के सदृश ही नाम और रूप उत्पन्न होते हैं।

पृ० ५१५ अनु० २) यहाँ "प्राचुर्य अर्थ में मयट् करने पर परमेश्वर के स्वरूप ज्ञान से अन्तत्व की अनुपपत्ति होगी।"

यह तो किसी सिरफिरे का सा कथन है। बड़े खेद की बात है कि ईश्वर के अन्तत्व की उपपत्ति के लिये आप यहाँ पर मयट् का प्रयोजन मान रहे हैं। आपकी यह बुद्धि तो धन्यवाद के योग्य है क्योंकि वह ईश्वर के अन्तत्व की इष्टापत्ति के अनुसन्धान में प्रयत्नशील है। वेद पुस्तक रूप हैं, यह कथन तो मांसल बुद्धियों का ही अभिनन्दन-मात्र हो सकता है।

प्रश्न—ईश्वर के ज्ञान का वेदों से कैसा सम्बन्ध है?

उत्तर—गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है, अतः यही सम्बन्ध है। ईश्वर का विषयता सम्बन्ध वेदों से नहीं है जैसा कि आपने उद्भावित किया है-जैसे—"यदि विषयता-सम्बन्ध मानें तो नित्यता का उपोद्बलक नहीं होगा। कारण यह है, कि ईश्वर तो सर्वज्ञ है, तब उसके ज्ञान से समस्त वस्तुओं का सम्बन्ध रहने से सभी को नित्य मानना होगा। अतः विषयता

श्चेत्तर्हि न स नित्यत्वोपोद्बलतया सम्बन्धुं शक्नुयात्, सर्वस्य...... नित्यत्वाऽप्रयोजकत्वात् ।" इति । भवतामयं तर्को विचित्रोऽतितरामसङ्गतश्च । यदीश्वरः सर्वाणि वस्तूनि जानीते तदा तेषां वस्तूनामपि नित्यता आपत्स्यते ।

श्रीमन् ! ईश्वरस्य ज्ञानेन उपादानात् प्रकृतेः रचितानां वस्तूनां नश्वरता कथं नक्ष्यति । तानि वस्तूनि तु संयोगजानि, ईश्वरोऽपि एतद्रूपे एव एतेषां वस्तूनां ज्ञाता वर्तते, यत् तानि पूर्वं संयोगेन निर्मीयन्ते । द्व्यणुकादि वियोगेन विनश्यन्ति च । नहि नश्वरवस्तुवद् वेदा ईश्वर-सर्वज्ञतायाः पृथक् किमपि भौतिकं वस्तु, यदि भवन्तो नवीन-वेदान्तिनो ब्रह्मणः पृथक् सत्तां मंस्यन्ते, तदा तु बहुदोषोद्भवः संपत्स्यते ।

प्रथमस्तु ब्रह्मातिरिक्त-वस्तुनः नान्यता सिद्धेः, अपरो भवतां पक्षे विषयता-सम्बन्धोऽपि नोपपद्यते, विषय-विषयिणोरेकरूपत्वात् ।

सम्बन्ध से नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, अर्थात् विषयता सम्बन्ध नित्यत्व का प्रयोजक नहीं है ।" आपका यह तर्क अतितराम् विचित्र और असङ्गत है कि यदि ईश्वर सब वस्तुओं को जानता है, तो उन वस्तुओं की भी नित्यता होने लगेगी ।

श्रीमन् ! ईश्वर के ज्ञान द्वारा उपादान रूप प्रकृति से रचित वस्तुओं की नश्वरता कैसे विनष्ट हो जायेगी । वे वस्तुएँ तो संयोग से उत्पन्न हैं, ईश्वर भी इसी रूप में उन वस्तुओं का ज्ञाता है कि वे पहले संयोग से बनती हैं और पश्चात द्वयणुकादि के वियोग से विनष्ट हो जाती हैं । इन नश्वर वस्तुओं के समान प्रकृति से उत्पन्न तो वेद हैं नहीं, वे ईश्वर-सर्वज्ञता के अन्तर्गत ही हैं । यदि आप जैसे नवीन वेदान्ती ब्रह्म से पृथक् सत्ता मानते है, तब तो बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं । प्रथम तो आपके पक्ष में ब्रह्म से अतिरिक्त वस्तु से अन्यवस्तु की सत्ता ही सिद्ध नहीं है । दूसरे आपके पक्ष में फिर विषयता-सम्बन्ध भी उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि वहाँ तो विषय और विषयी एक रस होगें ।

वेदों के विद्यामयत्व और ईश्वर ज्ञान में उसके वर्तमान होने पर तथा शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्यत्व के उपपादन करने पर शब्दाक्षरार्थ सम्बन्ध नित्य कहने पर भी न कोई विरोध है, और न असङ्गति । जैसे देखिये—

वेदानां विद्यामयत्वे ईश्वर-ज्ञाने च तद्वर्त्तमानत्वे शब्दार्थ—सम्बन्ध-नित्यत्व-कथने तु न कश्चिद् विरोधो न वाऽसङ्गतिः । यथा—

सर्वंशब्दो नभोवृत्तिः, श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते ।
वीचीतरङ्गन्यायेन, तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता ।।
कदम्ब-गोत्रक-न्यायाद्, उत्पत्तिः, कस्यचिन्मते ।

उत्पन्नः को विनष्टः कः, इति बुद्धेरनित्यत्वादिति उक्त्वा समाहितत्त्वात् ।

परमिह शब्दार्थ-सम्बन्धे न ध्वन्यात्मकः शब्दो गृह्यते इति स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थं महर्षिणा शब्दानन्तरमक्षर-पाठ कृतः । अक्षर शब्देनाऽपि नित्यताऽभिव्यज्यते । यथा महाभाष्ये अक्षरं नक्षरं विद्यादित्यादि व्याख्यातम् ।

यदुच्यते "ईश्वर-विद्या-वेदयोश्चाभेदत्वे कथं साध्य-साधन-भाव इति ।" तत्तु अविचारितफलमेव, यतोहि—अत्रावधेयं यत् पक्षो वेदः साध्यं नित्यत्वं, साधनमीश्वरत्वादिति । तदा क्वानुपपन्नता ? तद्भवता वाक्छलेनैव उपन्यस्तमिहेदम् ।

सब शब्द आकाश वृत्तिक हैं, उत्पन्न होने पर श्रोत्र के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं । उनकी उत्पत्ति वीची तरङ्गन्याय से कही गयी है । किसी के मत में कदम्ब गोत्र न्याय से उत्पन्न होता है । "उत्पन्न होता है या विनष्ट होता है यह बुद्धि तो अतात्त्विकी है ।

परन्तु यहाँ शब्दार्थ सम्बन्ध में ध्वन्यात्मक शब्द गृहीत नहीं होता इस स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए शब्द के अनन्तर अक्षर शब्द का पाठ ऋषि ने किया है । अक्षर शब्द के द्वारा भी अक्षरता अर्थात् नित्यता ही ध्वनित होती है । जैसा कि महाभाष्य में भी कहा हैं ।

"ईश्वर विद्या और वेद में अभेद होने पर साध्य-साधन भाव कैसे उपपन्न होगा ?" यह आपका कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर पक्ष वेद है साध्य नित्यता है और साधन ईश्वरीयत्वात् है, तब अनुपपन्नता कहाँ है ? आपने यहाँ वाक्छल से काम लिया है । यह कथन कि "शब्द नित्य है चाक्षुष होने के कारण से इसी प्रकार विद्यानित्यत्व हेतु भी असद् हेतु है ठीक नहीं, इस हेतु को आश्रयासिद्ध कहकर शब्द में अनित्यता या नित्यता जैसे नहीं सिद्ध की जा

यच्चोक्तं "तस्माच्छब्दोऽनित्यश्चाक्षुत्वादितिवदाभाससमान-योगक्षेमत्वमेव। विद्या-नित्यत्वहेतोः" इति। इत्यत्र यथा चाक्षुषत्वादिति हेतोराश्रयासिद्धत्वान्न शब्देऽनित्यता नित्यता वा साधयितुं शक्यते तथेहापि वेदे। इह वे० पा० टीकाकरोऽपि ईश्वरविद्या-नित्यत्वं हेतुं मन्यमानः भ्रान्त एव।"

किञ्चात्र न्यान्यविदो विदांकुर्वन्तु यदसिद्ध-हेत्वाभासस्त्रिधा (१) आश्रयाऽसिद्धो यथा—गगनारविन्दे सुरभि, अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवदिति, (२) स्वरूपाऽसिद्धो यथा शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वात् रूपवत्। अत्र चाक्षुत्वं पक्षे नास्ति शब्दस्य श्रावणत्वादिति। कथं पुनर् आश्रयासिद्धः दोषः दर्शितः! यावता पूर्वोक्तमुदाहरणमिदं तु स्वरूपासिद्धविषयकमेव।

सकती, उसी प्रकार वेद में भी सिद्ध नहीं की जा सकती। यहाँ पर आपके टीकाकार तो बहक गये हैं, जो कि वे ईश्वर विद्या-नित्यत्व या विद्या-नित्यत्व को हेतु मान बैठे हैं।

यहाँ पर नैयायिक विचार करें कि असिद्धहेत्वाभास तो तीन प्रकार का होता है, आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, और व्याप्यत्वासिद्ध। आश्रयासिद्ध, पक्षताऽवच्छेद युक्त पक्ष होता है जैसे-आकाश का कमल सुगन्धित है अरविन्द होने के कारण से, तालाब के अरविन्द के समान। यहां पर 'गगनारविन्द' रूप आश्रय ही नहीं है।

स्वरूपासिद्ध—साध्य व्याप्य हेतु के अभाव से विशिष्ट पक्ष वाला होता है अथवा यों कहिये कि हेतु के अभाव वाला पक्ष स्वरूपासिद्ध होता है। जैसे-शब्द नित्य है चाक्षुष होने के कारण से, रूप के समान। यहाँ चाक्षुत्व हेतु पक्ष शब्द के रूप में है ही नहीं क्यों कि शब्द श्रावण अर्थात् श्रवण का विषय है न कि चक्षु का। तृतीय व्याप्यत्वासिद्ध के उदाहरण देने की यहाँ आवश्यकता ही नहीं।

फिर समस्त दर्शन शास्त्र को निगलने के बाद भी दर्शनाचार्य ने आश्रयत्वासिद्धि का यह उदाहरण क्यों दिया जबकि उदाहरण स्वरूपासिद्धि का है। इससे उनकी बुद्धि का दिवालियापन ज्ञात होता है।

यथा शब्दे चाक्षुषत्वं नास्ति तथा किं वेदे विद्यावत्त्वं नास्ति? अस्त्येवेति। तदा वेदानां नित्यता साधयितुं न शक्यते इति, तून्मादोक्तिरेव भवतः।

(पू० प०) यदुक्तं 'चन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये आसीदिति दयानन्दोक्तं निःसारम्, यतः 'ईश्वर-ज्ञाने को मध्यः कोऽन्त इति निरूपयितुमशक्यत्वात्।'

(उ० प०) तदिदं शब्दप्रयोगाऽनभिज्ञत्वमेव भवतः यतोहि मध्य-शब्दं भवान् केवलं केन्द्रवाचकमेवावगच्छति तस्मादेवमाह, तच्च-न युक्तम्। किं भोः 'हंसमध्ये वको यथा' 'सभामध्ये' "येषु वस्तुषु मध्ये (ऐतरेयालो० पृ० १८६), अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः मध्य आत्मनि-तिष्ठति, (क० २।१।१२) इत्यादिषु स्थलेषु केन्द्रार्थकः मध्यशब्दः? कदापि नैव, परमभ्यन्तरार्थः, एवमिहापि ज्ञानमध्ये इत्यस्य ज्ञाने इत्यर्थः। किं च वेदोत्पत्ति-विषयेऽपि प्रश्नस्यैतस्य भवता समुद्भावितत्वात्तत्रैव च मया समाहितत्वात् पिष्टपेषणमेवेदं विस्मरण-शीलस्य भवतः।

(पृ० ५१७ अनु० २) यदाह "क्रियाश्रयस्तु कर्मैव न कर्त्ता

जैसे शब्द में चाक्षुत्व नहीं है, क्या उसी प्रकार वेद में विद्यावत्त्व नहीं है? प्रत्युत है ही। तब वेदों की नित्यता इससे सिद्ध नहीं हो सकती यह कथन केवल उन्मत्तोक्ति है।

पू० प०—"चन्द्रादि की रचना ईश्वर के ज्ञान के मध्य में थी" यह ऋषि दयानन्द का कथन निःसार है, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में क्या मध्य और क्या अन्त यह निरूपण नहीं किया जा सकता।

उ० प०—आप मध्यशब्द का अर्थ केवल केन्द्रवाचक ही समझ रहे हैं। इसीलिये आप ऐसा कहने लगे हैं। यह समझना आपका अल्पज्ञान ही है, बताइये—हंसमध्ये वको यथा, सभामध्ये न शोभेत, आदि में मध्यशब्द केन्द्र-वाची नहीं है, प्रत्युत भीतर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह अर्थ आपकी बुद्धि के मध्य में नहीं आया।

(पृ० ५१७ अनु० २) "क्रिया का आश्रय कर्म ही है कर्त्ता नहीं" यह आपने कहाँ पढ़ा? तथा इस कथन में क्या प्रमाण है? तथा आपने क्रिया

इति तदिदं क्वाधीतं भवता ? किं चात्र प्रमाणम् ? कश्च क्रियायां कर्मणि च भेदः ? भेदेऽपि प्रमाणं किम् ?

कथं न क्रियैव कर्म ? क्रियेन्द्रियं कर्मेन्द्रियमिति हेमचन्द्रः। कर्त्तुः क्रियया यद्व्याप्यते तत्कर्म। करोति, क्रियां निष्पादयति, इति कर्त्ता। 'आत्मसंयोग-प्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म।' तथा 'हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म।' (वैशेषिक ५।१।१-२) अनयोः कर्मशब्दस्य क्रियैवार्थः। 'संयोग-विभाग वेगानां कर्म-समानम्' (वैशे० १।१।२०) अत्रस्थले वाणादिसन्धानादि कर्म (क्रियैव) बाण-धनुः संयोगः कारणम् इत्याद्युन्नेयम्।

पुनः क्रियाश्रयः कर्म इत्यत्र स्वस्कन्धारोहणमेव। यदि क्रियाया आश्रय उक्तस्तर्हि कर्मण आश्रयः कथन्नोक्तः ? कश्चित् क्रियाजनक-व्यापाराश्रयस्तुकर्त्ता, किं व्यापारोऽपि न क्रिया ? व्यापरणमेव व्यापारः इति निर्वचनात्।

किं च क्रियाया नैवाश्रयो द्रव्यं ? किमथापि कर्त्ता न द्रव्यान्तर्गतः? वस्तुतस्तु द्रव्यमाश्रयः क्रियायाः। तथा च 'क्रियागुणवत्समवायिकारण

और कर्म के भेद का भी प्रतिपादन नहीं किया ? भेद होने में भी प्रमाण क्या है ?

क्रिया ही कर्म क्यों नहीं ? क्रियेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय को हेमचन्द्र पर्याय-वाचक मानते हैं। कर्त्ता की क्रिया से जो व्याप्त होता है वह कर्म होता है और क्रिया का निष्पादन करने वाला कर्त्ता होता है। "आत्मा के संयोग और प्रयत्नों से हाथ में कर्म, हाथ के संयोग से मूसल में कर्म" आदि इन वैशेषिक सूत्रों में कर्म शब्द का अर्थ क्रिया ही है।" संयोग विभाग और वेगों का कर्म समान होता है,, (वै० द० १।१।२०) इस स्थल पर वाणादिसन्धान आदि कर्म या क्रिया ही हैं वाण और धनुष का संयोग उस बेग में कारण है इत्यादि स्थलों पर आपको विचार करना चाहिये।

फिर "क्रिया के आश्रय कर्म" यह कहना अपने कन्धे पर ही चढ़ने के समान है। यदि क्रिया का आश्रय यहाँ पर आपने कहा तो कर्म का आश्रय क्यों नहीं बताया ? क्रिया-जनक व्यापार का आश्रय तो कर्त्ता माना है, तो क्या व्यापार भी क्रिया नहीं है ?

क्या क्रिया का आश्रय द्रव्य नहीं है ? और क्या कर्त्ता द्रव्यान्तर्गत नहीं है ? वस्तुतः क्रिया का आश्रय द्रव्य है। इसी लिये वैशेषिककार ने १।१।१५

मिति द्रव्य लक्षणम्, (वैशे० १।१।१५) इति द्रव्यलक्षणे स्पष्टप्रतिपादनात्। अत्र करपात्रस्यायमेवाशयो यत् सूर्यचन्द्रादि-रचन-क्रिया कर्त्तरि परमात्मनि न तिष्ठति तदा पूर्वकल्पवद् रचनं कर्त्तुं नार्हत्यसौ इत्येषाऽस्ति कपटपटुताऽस्य कापालिकस्य।

कर्मणश्च लक्षणं 'संयोगभिन्नत्वे सति संयोगाऽसमवायिकारणम् इति, विभिन्ने परमाणुद्वयेऽदृष्टवशात् क्रिया जायते तया द्व्यणुकस्य द्रव्यस्य कारणीभूतः परमाणुद्वयसंयोगो भवति, तस्यासमवायिकारणं सा क्रियैवेति समन्वयः। तदेवं कर्मणि क्रियायां च न कोऽपि भेदः। यथा शरीरपात्राद्यवयवद्वय-संयोगस्याऽसमवायिकारणं करपात्रसंयोगः संयोगश्चक्रिया। तस्माद्रचन-क्रियाजनक-व्यापाराश्रयः कर्त्तैवेति।

यदि न कृततोपपन्न-कर्मण आश्रयः कर्त्ता, तदा कथङ्कारं कर्मफल-भोक्ता सिद्धेज्जीवः ? कर्मनिरपेक्षेश्वरस्य तु निमित्तकारणत्वे वैषम्य

सूत्र में बताया, कि क्रिया और गुण से युक्त समवायि-कारण द्रव्य होता है। तथा कर्म के लक्षण में बताया कि एक द्रव्याश्रित, गुणरहित, संयोग और विभाग के उत्पन्न करने में अपने से बाद उत्पन्न किसी भाव पदार्थ की अपेक्षा न करता हुआ कारण कार्य होता है।

यहाँ पर श्री करपात्र का यही आशय है, कि सूर्य चन्द्रादि रचना क्रिया कर्त्ता परमात्मा में नहीं रहती, तब पूर्वकल्पवत् वह रचना भी नहीं कर सकता। यही इनका कपट-चातुर्य है।

कर्म का लक्षण नव्यों के मत में "संयोग भिन्न होने पर संयोग का असमवायि कारण कर्म होता है।" इस प्रकार विभिन्न परमाणुद्वय में अदृष्ट-वशात् क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया से द्व्यणुक द्रव्य का कारणीभूत परमाणुद्वय का संयोग होता है। उसका असमवायि कारण वह क्रिया ही है। इस प्रकार कर्म और क्रिया में कोई भेद नहीं। शरीर पात्र आदि दो अवयवों के संयोग का असमवायि कारण कर-पात्र संयोग ही होता है और वह संयोग ही क्रिया है। इसलिए "रचना क्रिया का जनक व्यापार उसका आश्रय तो कर्त्ता ही है" इस कथन से आपने क्या निष्कर्ष निकाला ? अथवा यह कुतर्क मात्र ही रहा।

महाभाग ! यदि कृत कर्म का आश्रय कर्त्ता न होता, तो जीव कर्मफल भोक्ता कैसे सिद्ध होता ? कदाचित् कर्म-निरपेक्ष ईश्वर को जगत् का निमित्त

नैर्घृण्यदोषापत्तेः । भवत्पक्षेऽपि च क्रियाजनक-व्यापाराश्रयः कर्त्ता, कर्त्तृ-व्यापारजन्या च क्रिया, क्रियाजन्यं द्रव्ये उत्पन्नं कर्म, अतः पारम्पर्येण कर्माश्रयः कर्त्ता । तद्धि कर्म संयोग-विभाग-समवायिकारण-साहाय्येन संयोग-विभागौ, उत्पादयति । अतः क्रियायाः परिपक्वावस्थकर्मत्वे चन्द्रादि-सृष्टिकर्मत्वधर्मवान् ईश्वर एवेति महर्षिलेखोऽविचिकित्सितो विपश्चिद्भिर्बोध्यः ।

यदुक्तम् "ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाऽभावात्" इति तदपि न समीचीनं, वृद्धिक्षयाद्यभावादित्येव वक्तव्यं स्यात्" इत्यत्र भवान् स्वबुद्धेःक्षयविपर्य्ययादि-विपर्ययार्थे योजयति, अत्र भवता महर्षि तात्पर्यं नावबुद्धम्, तत्तु एवमधेयं यन्नास्मादृशज्ञानमिव ईश्वर-ज्ञानस्य कदाऽपि वैपरीत्यं जायते । स्वामिन् ! दयस्वात्मनि अन्ध-विश्वासग्रस्तस्वभक्त-लक्ष्मीतनयेषु चापि । न विभ्रामय कुतर्क-संस्कृत-शब्दजालचक्रवातभ्रमौ तान् ।

कारण मान लिया जावे तो वैषम्य और नैर्घृण्य दोषापत्ति होगी अर्थात् जीवों को उच्चनीचयादि बनाने से न्यूनाधिकता एवं अनेकों को अति दीन दुःखी बनाने से निर्दयता आदि दोषों की सम्भावना होने से साधारण जनों के समान राग-द्वेषादि ग्रस्त होने से ईश्वर के ईश्वरीय भाव का लोप हो जायेगा ।

आपके पक्ष में भी व्यापार से जन्य क्रिया तथा क्रिया से जन्य द्रव्य में उत्पन्न (उद्भूत) कर्म हुआ, अतः परम्पराभाव से कर्म का आश्रय कर्त्ता ही ठहरा । अतः क्रिया की परिपक्वावस्था रूप कर्म में चन्द्रादि सृष्टि कर्म का धर्मवान् ईश्वर ही है; इस प्रकार महर्षि का समस्त लेख निःभ्रान्त है ।

यह कथन कि "ईश्वर के ज्ञान में वृद्धि क्षय तथा विपर्यय भी नहीं हुआ करते," ठीक नहीं है, क्योंकि वृद्धि क्षय आदि के न होने से इतना कहना ही पर्याप्त है । यह कथन भी ठीक नहीं । आप अपनी बुद्धि के क्षय और विपर्यय आदि का ही यहां विपर्यय (उल्टे) अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं । यहां पर आप समझिये कि महर्षि का अर्थ यह है कि हम लोगों के ज्ञान के समान परमेश्वर के ज्ञान में कभी उलटफेर नहीं होता । जैसे हम लोगों के ज्ञान में वृद्धि तथा क्षय दोनों होते हैं और ज्ञान का उलटा भी करने लगते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर वृद्धि और क्षय के अभाव में भी अपने एकरस ज्ञान का उल्टा प्रयोग भी नहीं कर सकता ।

प्रश्न :—'वृद्धक्षय-विपर्ययाभावः' इत्यत्र कः समासः ?

उत्तरं—वृद्धिश्च क्षयश्च विपर्ययश्च तेषामभाव इतिद्वन्द्व-गर्भित तत्पुरुषोऽभीष्टः । एतेन भवत्कुदम्भस्कम्भाधारः कल्पनेष्टिकाभिश्चितो वागाडम्बर-प्रासादः समस्तो ध्वस्तः ।

(पृ० ५१८ पं. ८-१०) "वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते" इत्यस्य स्थाने "वस्तुतस्तु वेदानां नित्यत्वे व्याकरणादि-शास्त्राणां साक्षितया प्रमाणानि दीयन्ते" वक्तव्यमासीत् । ष्यञ्प्रत्यये तु साक्ष्यार्थमिति वक्तव्यं, न साक्ष्यर्थमिति ।"

अत्र भवतामेष आक्षेपो यत् साक्ष्य+अर्थम् इति सन्धौ कृते दीर्घत्वं स्यादिति । भवेन्नाम मुद्रण-दोष एष, परं सिद्धान्ते का नाम क्षतिः ? साक्ष्यार्थमित्यत्राऽकारहीनतामनुतपति भवान्, परं (वे. पा. पृ. ५१७ पं. १४) अत्र 'षडविकाराणाम्' इत्यत्र अकार-विशिष्टं डकारं पठन्

स्वामिन् ! स्वय पर, व अन्धविश्वास ग्रस्त अपने भक्त लक्ष्मी पुत्रों पर अब तो दया करो । कुतर्क-परिपूर्ण संस्कृत के शब्द-जाल के चक्रवात (लकरा) के चक्कर में उनको मत घुमाओ हमारे इस तर्क द्वारा आपके कुदम्भ के खम्भों पर आधारित कल्पना की ईंटो से चुना हुआ वागाडाम्बररूप समस्त प्रासाद ध्वस्त हो गया ।

प्र०—"वृद्धिक्षय विपर्ययाभाव" इसमें क्या समास है ?

उत्तर—वृद्धि और क्षय और विपर्यय उनका अभाव इस प्रकार द्वन्द्व गर्भित तत्पुरुष समास ही यहाँ अभीष्ट है । इससे आपकी शेष शङ्कायें स्वतः ऐसे ही उच्छिन्न हो जाती हैं, जैसे कि सूर्य की किरणों से अन्धकार ।

(पृ० ५१८प.८१०)" वेदों के नित्यत्व में व्याकरण शास्त्र आदि के साक्षी के लिए प्रमाण लिखे जा रहे हैं" इसीभूमिका लेख के स्थान पर वास्तव में 'वेदों के नित्यत्व में व्याकरण शास्त्रों के साक्षिता रूप में प्रमाण दिये जाते हैं, यह ही कहना चाहिये था । ष्यञ् प्रत्यय करने पर तो साक्ष्य+अर्थ साक्ष्यार्थम् ऐसा लिखना चाहिए न कि साक्ष्यर्थं ।'

यहां पर आपका आक्षेप है कि साक्ष्य+अर्थ की सन्धि करने पर दीर्घ होना चाहिये । अच्छा इसे मुद्रण-दोष दुर्जन तोष-न्याय से माने लेते हैं, पर यहाँ सिद्धान्त की क्या क्षति हुई ? आप 'साक्ष्यर्थ' यहाँ पर अकार हीनता के लिए इतने दुःखी हैं, पर वे० पा० पृ० ५१७ पं० १४ में षड्विकाराणाम्

न स्वीय-मुग्धतायै खेदोभवतः, अथवा साक्ष्यर्थमित्येव सुवचम्, साक्षिणे उपद्रष्ट्रे एव द्रष्टृणामाप्तानां प्रमाणोपन्यास-प्रयोजनात्। साक्षात्कृतधर्माण ऋषतस्त एव द्रष्टारः। साक्षी चोपद्रष्टा यश्च द्रष्टुरनन्तरं पश्यति। साक्षीतिशब्दस्य—"साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम् (अष्टा. ५।२।९१) इन्यनेन सिद्धि र्भवति। अत्र 'यद्यपि साक्षात् द्रष्टारस्त्रयो भवन्ति, दाता ग्रहीता उपद्रष्टा च, तथापीह संज्ञा-ग्रहणात्साक्षि-शब्देन उपद्रष्टैव उच्यते" इति तत्त्व-वोधिनीकार-दृष्ट्याऽपि साक्ष्यर्थमित्यस्यैव पाठस्य श्रेयस्त्वात्। इह वेद-विषये दाता परेशः, ग्रहीता आप्त, उपद्रष्टा च जिज्ञासुरित्येवं समुपपन्नं सर्वम्।

एतदग्रे ५२१ पृष्ठं यावत् समग्रोऽपि पाठस्तत्तद्ग्रन्थेभ्योऽवतारितोऽनेन स्वपुस्तक-कलेवरवर्धनाय, न किमपि मौलिकमूहितम्। जाति-व्यक्ति-स्फोटात्मकं कैयटनागेशमतोद्धरणम् अप्रासङ्गिकमकाण्डपाण्डित्य-ताण्डवमेव।

इसके स्थान पर षडविकाराणां यहां डकार को अकार-विशिष्ट पढ़कर अपनी मुग्धता के लिये आप किञ्चित् भी खिन्न नहीं है। अथवा (साक्षि+अर्थ) साक्ष्यर्थ यही पाठ सर्वथा तर्क-संगत व समुचित है। क्यों कि द्रष्टा, आप्त प्रमाणों का उपन्यास साक्षी अर्थात् उपद्रष्टा के लिये ही प्रयोजनवत् मानते हैं। साक्षात् कृतधर्मा ऋषि ही द्रष्टा होते हैं। द्रष्टा के अनन्तर उपद्रष्टा (साक्षी तत्व का दर्शन करता है। साक्षी इस शब्द की सिद्धि ५।५।९१ सूत्र से होती है। यहां तत्वबोधिनीकार की दृष्टि से भी साक्षी यही पाठ समुचित प्रतीत होता है। जैसे—उन्होंने कहा है कि यद्यपि साक्षाद् द्रष्टा तीन होते हैं, दाता, ग्रहीता और उपद्रष्टा, तब भी यहां संज्ञाग्रहण होने से साक्षी शब्द से उपद्रष्टा का ही ग्रहण कहा जाता है। यहां वेद-विषय में दाता परमेश्वर ग्रहीता आप्त द्रष्टा ऋषि और उपद्रष्टा अन्य जिज्ञासु जन अभीष्ट हैं, अतः साक्ष्यर्थ, पाठ ही सुसंगत है।

इसके आगे ५२१ पृ० तक उन उन ग्रन्थों से उतारा हुआ समस्त पाठ अपने इस थोथे पोथे की स्थूलता के लिये ही है। किसी मौलिक बात की आपने ऊहा नहीं की। जाति-स्फोट और व्यक्ति-स्फोट रूप कैयटनागेश का मतोद्धरण भी अप्रासङ्गिक तथा असामयिक ताण्डव है।

उपादानकारणस्य नित्यत्वात्तत्कार्यस्यापि नित्यत्वमित्यभिप्रायिकं भवद्वचस्तु स्वीय-कल्पनैव, यतः 'पाणिपादमपि बध्नन्ती शृङ्खला नोन्मत्तं कल्पनादवरुणद्धि इति लोकोक्तिः, परमिह वेद-ज्ञानस्य ईश्वरीयज्ञानं नोपादानं तस्य गुणत्वात्। शिष्टं चर्वितचर्वणमेव भवतः, नो नव्यं-भव्यम्।

अन्य-मुखेन (उपादानत्वेन) शङ्कितमन्येन निमित्तेन समाहितम्, परं त्वदभिहितादुपादानरूपात्परमेश्वरादपरिणामिनोऽपि न जगदुत्पत्ति-सम्भवः, नित्यप्रकृत्यनादित्वानङ्गीकरणात्। यश्च किल ब्रह्म, निमित्तकारणमुपादानं चोभयमाकलयते, स तु असम्भवमेव सम्भावयितुमीहते। अस्मन्मते तु 'अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लामितिश्रुतेः ईश्वर-जीव-प्रकृतीनां पृथक्-सत्ता स्वीकारात् सर्वं समाधीयते।

(पृ. ५१८ अनु० १) महर्षि-र्महाभाष्यात् शब्दनित्यत्व-प्रकरणे उद्धृतवान् यत् 'नित्याः शब्दाः तेषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैरन-

---

उपादान कारण के नित्य होने से उसके कार्य का भी नित्यत्व होगा। इस अभिप्राय का आपका वचन तो आपकी कपोल-कल्पना है, जिसके करने में आप स्वच्छन्द हैं। क्योंकि हाथ-पैर बांधने वाली कोई जंजीर किसी उन्मत्त को कल्पना करने से नहीं रोक सकती। यह कहावत प्रसिद्ध है। लेकिन यहां पर वेद ज्ञान का ईश्वरीय-ज्ञान उपादान कारण नहीं है। शेष पिष्टपेषण है, कोई नव्य भव्य नहीं है।

अन्य मुख अर्थात् उपादानत्वेन शङ्का की और अन्य मुख अर्थात् निमित्त कारणत्वेन समाधान दिया। परन्तु तुम्हारे कहे हुये उपादान रूप परमेश्वर से जोकि अपरिणामी है-जगत् की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, क्योंकि प्रकृति की अनादि-नित्यता आप नवीन वेदान्ती तो मानते ही नहीं, और जो ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानते हैं वे तो असम्भव को सम्भव बनाना चाहते हैं। हम आर्यों के मत में तो अजामेकाम् इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की स्वरूपतः अनादि सत्ता मानी जाने से सभी शंकाओं का समाधान हो जाता है।

(पृ० ५१८ अनु० १) स्वामी जी ने शब्द-नित्यत्व प्रकरण में 'नित्याः शब्दाः'—प्रमाण महाभाष्य से उद्धृत किया है। इनका आक्षेप है कि यह

पायोपजनविकारैर्भवितव्यम् इति । अत्रायमाक्षिपति यदेतदुद्धरणं महाभाष्ये पूर्वपक्ष-परम्, यावता महाभाष्यकृता शब्दानां नित्यत्वमेव सिद्धान्तितम् । मन्ये, शब्द-नित्यत्वे तु एष पक्षः सिद्धान्तत्वेन यथा पतञ्जलिना स्वीकृतस्तथा स्वामि-दयानन्देनापि, अतस्तात्पर्यं न कस्या अपि बिप्रतिपत्तेरवकाशः, फलतः प्रदीपोद्योत-भागोद्धरणमिह अनावश्यकम् ।

(पृ० ५१८ अनु०१) इह पारिजात-लेखक आक्षिपति यत् पूर्वं भूमिका-कारेण नित्यानित्यत्वकथनपूर्वकं शब्दानां द्वैविध्यमाख्यातं, सम्प्रति महाभाष्यस्य उद्धरणेन लौकिकानामपि शब्दानां नित्यत्वमुक्तं तदेषा विरोधोक्तिः । अत्रोच्यतेः—आकाशदेशाधिकरणस्य शब्दस्य तद्गुणत्वादाकाशस्थिति यावदायुष्यम्, स एव शब्दस्ताल्वादिना उच्चार्यमाणः श्रवणादिना च गृह्यमाणः अस्मत्क्रिया-जन्यः क्षणभङ्गुरः । नैतेन शब्दस्याऽनित्यत्वं भवति, केवलमुद्भूतता एव नश्यति । एवंविध-शब्द-सङ्गतो मानस-बुद्धि-जन्योऽर्थः सम्बन्धश्चापि अनित्यः, परमाकाशगुणकः शब्दस्तु अखण्डैकरसः, अतस्तत्त्वेन न कश्चिद् विरोधः ।

पूर्वपक्ष भाष्य है । पर महर्षिपतञ्जलि ने 'शब्द नित्य' का ही सिद्धान्त माना है । तो इस विषय में तो शब्दनित्यत्व का पक्ष ही समर्थित हुआ आपकी बात मानकर भी सिद्धान्त तो यही निकाला । जिस रूप में पतञ्जलि ने स्वीकृत किया है उसी रूप में दयानन्द ने भी माना है । अतः तात्पर्य असन्दिग्ध है । फलतः प्रदीपोद्योत का उद्धरण अनावश्यक है ।

इस प्रसङ्ग में करपात्र जी का यह आक्षेप भी है कि पहले तो स्वामी जी ने नित्य अनित्यत्व रूप शब्द के दो भेद कहे । अब महाभाष्य के उद्धरण से लौकिक शब्दों की भी नित्यता कहने लगे, इस प्रकार यह विरोध-उक्ति है ।

इस विषय में समझिये :—कि आकाश देशाधिकरण शब्द आकाश का गुण है, तो आकाश जब तक रहेगा, तब तक वह शब्द भी रहेगा । वही शब्द ताल्वादि अभिघात के द्वारा उच्चार्यमाण होकर श्रवण के द्वारा गृहीत होता हुआ हमारी क्रियाओं से जन्य होने से उद्भूत शब्द क्षण भङ्गुर है । इससे शब्द का अनित्यत्व नहीं होता, केवल उद्भूतता ही नष्ट

प्र०—व्याकरणे ये आदेशा आगमा वा भवन्ति ते नित्येषु शब्देषु कथं संगच्छेरन् ?

उ०—शब्द-नित्यत्वपक्षरक्षणाय "एवमवगन्तव्यं यत् आदेशास्तर्हि इमे भवन्ति अनागमकानां सागमकाः । फलतः इड्विधानकर्त्तुः 'आर्धधातुकस्येड्वलादेरिति सूत्रस्य 'आद्यन्तौ टकितौ' इति सूत्रेण, एकवाक्यतायां वलाद्यार्धधातकस्य इडागम इत्यर्थे संपन्ने शब्द-नित्यता-सिद्धान्तानुपपत्तौ सम्भावितायामेधितव्यमितिरूपसिद्ध्यै वाक्यान्तरकल्पना करिष्यते, इड्रहित 'तव्य' बुद्धौ प्रसक्तायां इट्सहिततव्य बुद्धिः-करणीया, इति ।"

इदमेव च (न्या० २।२ ५६) सूत्रे भाष्यकारोऽपि (वात्स्यायनः) समर्थयते "स्थान्यादेशभावादप्रयोगे प्रयोगो विकारशब्दार्थः" इति । भवतः शेषः नागेशादि समुद्धृतोंऽशोऽपि ग्रन्थ-स्थौल्याय एवेतिबोध्यम् ।

(पृ. ५२२ अनु०१) एवं केषाञ्चिद् भवति । सा भ्रममूलैवाऽस्ति ······················ सुवचम्' इत्यत्र यदुक्तं 'असङ्गतमिति,

---

होती है । इस प्रकार शब्द संगत-मानसबुद्धिजन्य अर्थ और उनका सम्बन्ध (लौकिक) अनित्य है, परन्तु आकाश गुणक एक रस शब्द अखण्ड है, अतः परिणामतः कोई विरोध नहीं ।

प्र०—व्याकरण में जो आदेश और आगम होते हैं वे कैसे सङ्गत होंगे ?

उ०—शब्द नित्यत्व पक्ष के रक्षणार्थ इस प्रकार समझना चाहिये कि वे अनागमकों क लिये सागमक आदेश होते हैं । फलतःइड् विधान करने वाले सूत्र की "आद्यन्तौ टकितौ" इस सूत्र के साथ एक वाक्यता करके वलादि आर्धधातुक को "इडागम" हो इस अर्थ के सम्पन्न होने पर शब्द नित्यता के सिद्धान्त की अनुपपत्ति की सम्भावना में "एधितव्यम्" इस रूप की सिद्धि के लिये वाक्यान्तर की कल्पना कर ली जाती है अर्थात् इड्रहित तव्य बुद्धि प्रसक्त होने पर इट् सहित तव्य बुद्धि कर लेनी चाहिए ।

इसी की पुष्टि वात्स्यामन भाष्य के द्वारा भी हो रही है आप निरर्गल नागेशादि की संस्कृत उतारकर अपनी व्याकरणज्ञता सिद्ध करना चाहते हैं ।

(पृ० ५२२ अनु०१) आक्षेप—'एवं केषाञ्चिद् भवति । सा भ्रममूलैवाऽस्ति क्योंकि भ्रममूला में 'भ्रमो मूलं यस्याः सा—भ्रममूला, मूलमस्ती-

तन्न, अपि तु भवदुक्तमेवासङ्गतं तत्त्वानवबोधात्। इह भ्रमो मूलम् अस्या इति बहुव्रीहि-समास एव स्वीकार्यः। ननु चोक्तमाद्ये मूल-पदस्य कारण-परतया कारणस्य च कार्य-नियत-पूर्ववृत्तित्वेनापायबुद्धेः पूर्वं तत्कार्यभूतस्य भ्रमस्यावश्यमवश्यं स्वीकार्यत्वाऽऽपातात्, इति चेन्नो हानिः, तत्स्वीकृतौ सिद्धान्ताऽक्षतेः। यथा "मिथ्याबुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् (पा. ४।२।३६) अर्थात् मिथ्याबुद्धेर्भ्रमस्य कारणस्य तदुत्पन्न-सत्तायाश्चोपलब्धे मिथ्याबुद्धेरप्यस्तित्वं स्वीकृतं, भ्रमस्य च प्रमोत्पत्तेर्विनष्टत्वं प्रोक्तम्। तथाहि "मिथ्योपलब्धि-विनाशस्तत्त्वज्ञानात् स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत् प्रतिबोधे।" (न्या. ४।२।३५)।" किञ्च महोदय! भवता तु भ्रमः सर्वथा सर्वत्र स्वीकार्य एव। भ्रमश्च तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानम्। तद-भावनिष्ठविशेष्यतानिरूपिता या तन्निष्ठा-प्रकारता तन्निरूपक ज्ञानत्वमप्रमात्वमिति हि तदर्थः।

ननु चोक्तं 'तदङ्गीकारे तस्य भ्रमरूपत्वात् कर्म-सिद्धावपरबुद्धेर्निष्प्रयोजनत्वात्" इति चेन्न, तत्त्व-ज्ञान-स्थितौ पूर्व-तथाकथित-निष्फल-ज्ञानस्यापि प्रयोजनवत्त्वात्। अत्र प्रकरणे अपायत्वादि-शून्ये

त्यस्यामिति मूला भ्रमस्य मूला भ्रममूला' इन दो प्रकार के समासों में कौन सा समास करेंगें। दोनों ही नहीं हो सकते, अतः स्वामी दयानन्द का कथन असंङ्गत है।

समा०—वस्तुतः तत्व को न समझने के कारण ही आपका यह 'असंङ्गत' कथन ही असङ्गत है। यहां पर बहुव्रीहि-समास स्वीकार करना चाहिये। इसमें मूल पद के कारण-परक होने से और कारण के कार्य से नियत-पूर्व वृत्तिक होने से अपायबुद्धि से पहले उसका कार्यभूत भ्रम अवश्य मानना पड़ेगा तो इसके मानने पर भी सिद्धान्त की तो कोई हानि नहीं, क्योंकि न्यायदर्शन के (४।२।३५-३६) सूत्रों में मिथ्या बुद्धि अर्थात् भ्रम का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। जोकि प्रमोत्पत्ति से विनष्ट हो जाता है। फिर महोदय! आपको तो भ्रम सर्वथा सर्वत्र स्वीकार्य ही है।

भ्रम तद अभाववान् तत्प्रकारक ज्ञान ही है। अर्थात् उसकी अभाव निष्ठ विशेषता मे निरूपित निष्ठा की प्रकारता का निरूपक ज्ञान ही अप्रमा है।

यह कथन निःसार है कि "उसके मानने पर तो कार्य-सिद्धि-विषयक

शब्दे अपायत्व-प्रकारक-बुद्धिः "इदं सापायमिति" स भ्रमः, मिथ्या ज्ञानस्य लोके स्वीकरणात्, मिथ्याज्ञानस्य कारणे सति तद्रूप-ज्ञान-कार्योद्भवात्तत्व-ज्ञानाऽनुदयाच्च।

यदुक्तं 'भ्रमस्य मूलमित्यपि समासो न भविष्यति, अपायबुद्धे-रुत्तरवर्त्ति किमपि भ्रमात्मकं ज्ञानमवश्यं स्वीकर्त्तव्यमन्यथा बुद्धेस्तत्कारणत्वाऽनुपपत्तेः, परं नैष दोषः तस्य (भ्रमस्य) सिद्धान्त रूपेणाभ्युपगमात्। यदुक्तं—सा 'भ्रमात्मिकैव' इति सुवचमिति तु दुर्वचमेव, तथासति अनेक-दोष-प्रसङ्गात् नहि भ्रमस्य मूलवती बुद्धिः भ्रमरूपा सम्भवति, यथा न धनस्य मूलवान् पुरुषः धनात्मकः (धनरूपः) सम्भवति। तदेवं भवतो महता प्रयासेन पर्वतोत्खननेन

उत्तर ज्ञान भ्रमरूप कारण से उत्पन्न होने से निष्फल होगा" क्योंकि तत्त्व ज्ञान की स्थिति में उसके पूर्व का तथाकथित निष्फल ज्ञान भी प्रयोजन वाला ही माना जाता है। इस प्रकरण में अपायत्वादि शून्य शब्द में अपायत्व-प्रकारक बुद्धि अर्थात् "यह सापाय है" ऐसा समझना ही तो भ्रम कहलायेगा और मिथ्या ज्ञान की सत्ता लोक में स्वीकृत करने पर 'मिथ्या ज्ञान के कारण होने पर तद्रूप ज्ञान कार्य के उद्भव होने से आपके कथनानुसार तत्त्व ज्ञान का उदय ही न हो सकेगा।

यह कथन है कि "भ्रम का मूल' यह भी षष्ठी समास न होगा, क्योंकि अपाय बुद्धि से उत्तरवर्ती कोई भ्रमात्मक ज्ञान अवश्य स्वीकार करने योग्य है अन्यथा उसकी कारणता उपपन्न न होगी।" श्री मान जी इसके स्वीकार करने पर सिद्धान्त को क्या क्षति है?

यह कहना "कि बुद्धि भ्रमात्मिका ही है" यही सुवच है। वस्तुतः तो यह सुवच नहीं दुर्वच है, क्योंकि इसमें अनेक दोष आयेगें। भ्रम की मूल-वती बुद्धि भ्रम-रूपा नहीं हो सकती जैसे धन का मूलवान् पुरुष धनस्वरूप नहीं हो सकता। इस प्रकार आपने बड़े परिश्रम से पर्वत का उत्खनन किया और चुहिया भी नहीं निकाल सके। वस्तुतः 'भ्रमात्मिका' यह सुवच विशेषण आपकी बुद्धि के लिये ही समुपयुक्त है।

तथा आपकी ग्रन्थ-प्रस्तावना में श्रद्धेय श्री पट्टाभिराम शास्त्री ने "जगत् की स्थिति धर्ममूला" है ऐसा प्रयोग किया है। तब तो जो समास वहाँ है वही यहाँ पर मान लीजिये, पर यह तो महद् आश्चर्य है, कि करपात्र जी की बुद्धि

मूषिकाऽपि न निस्सृता। अतः वस्तुतो भ्रमात्मिकेति भवद्बुद्धेरेव समुपयुक्तं विशेषणं सम्भवति।

अपि वा भवद्ग्रन्थ-प्रस्तावनायां श्री पट्टाभिराम-शास्त्रिणा 'जगत्स्थितिर्धर्ममूला' इति प्रयोगः कृतः। तत्र यः समासः स एव अत्रापि अवगन्तव्यः, परमेतद् महदाश्चर्यं यत् करपात्रस्य तत्र पक्षपात-प्रलेप-पराकाष्ठया न कश्चन सामासिकः संदेहः समुत्पन्नः॥

वस्तुतस्तु इदं वचो भवदज्ञान-विजृम्भकं, यतोहि न ज्ञानं भ्रमादुत्पद्यते प्रत्युत भ्रमनाशादेव। तदेवमिह अपायबुद्धिरूपं कार्यं निष्फलं यच्चाऽस्माकमभीष्टम्।

आर्षप्रतिभानमिदमेव भ्रमात्मकस्य भवतो भ्रमभञ्जन-त्रणम। अपि च निर्मलोक्तिरियमत्र संगच्छते :—

स्वामी देव-दयानिधिस्तु सकलानादर्शयद् वैदिकम्।
निर्भ्रान्तिं जगृहुः सुमार्गमपि ते निर्बन्धबन्धं जहुः॥
टीकाकृद् व्रजवल्लभस्तवमतं मूलंभ्रमस्यात्यजत्।
यूयं मूलकृतोऽनुयात सरणिं विद्वद्भिरङ्गीकृताम्॥

पर पक्षपात का प्रलेप पराकाष्ठा का चढ़ा हुआ है जो कि उन्हें वहां कोई सन्देह नहीं दीखा।

यह कथन कि "कार्य सिद्धि विषयक उत्तर ज्ञान निष्फल होगा क्योंकि वह भ्रमजन्य है" यह वचन भी अज्ञान मूलक है, क्योंकि ज्ञान भ्रम से उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत भ्रमनाश से उत्पन्न होता है। इस प्रकार यहां पर अपाय-बुद्धि रूप कार्य का निष्फल होना ही अभीष्ट है।

ऋषि दयानन्द की यह सूझ आपके भ्रमभंजन करने में सहायक होगी। यहां पर यह निर्मलोक्ति सङ्गत है :—

"दयानिधि देव दयानन्द स्वामी ने निर्भ्रान्त वैदिक मार्ग सभी को दिखाया और विचारशील लोगों ने दुराग्रह छोड़कर इस मार्ग को अपना लिया। आपके टीकाकार श्री व्रजवल्लभ जी ने भी आप-सम्मत भ्रमस्य मूलम् यह विग्रह छोड़कर "भ्रमस्य मूल" यह पाठ पढ़ा है अतः आप भी मूल शङ्कर कृत ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका का अनुकरण करें तभी आपका कल्याण सम्भव है।

(पृ० ५२२ पं. ६) पू. प० - यच्चाह "भ्रममूलत्वे तस्याः कारणमुक्तम्, कुतः ? शब्दानामेकदेश-विकारे चेत्युपलक्षणादिना, तदपि न क्षोद-क्षमं, त्वदुक्तस्य हेतो र्भ्रममूलत्वस्य च साध्यस्य व्याप्तिग्रहाऽभवात्।"

(उ. प.) सर्वमिदं भवदुक्तं न तर्कसहं, विवेचकास्तावद् विचिन्वन्तु यद् भ्रमो मूलमस्या इति समासे स्वीकृते "भ्रममूलत्वे अर्थात् अपाय-बुद्धित्वे तस्या अपाय-बुद्धेः कारणत्वमाह इत्येवार्थो निष्पद्यते। नह्यपाय-बुद्धित्वे हेतौ अपाय-बुद्धिः साध्या, न च भ्रम-मूलत्वस्य च हेतुत्वमुक्तमिह। भ्रमोनाम भ्रममूलायामपाय-बुद्धौ हेतुरस्ति। सामान्य-हेतौ भ्रमे सामान्यानिष्ट-बुद्धिर्जायते एव सर्वत्र।

यथा--यत्र यत्र हि भ्रमस्तत्र तत्रानिष्ट-प्रतिपत्तिरिति अव्यभिचरितो हेतुः एवं व्याप्तिःसंगच्छते एव, तथैव अत्रापि।

(पृ० ५२२ अनु० ३) इह यदाक्षिप्तं यत् पूर्वसंस्करणेषु मुद्रण-दोषेण "शब्दस्यैकदेशाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि, इति पाठ आसीत्" भवेन्नामाऽसौ, तवास्मिन् वेदार्थ-पारिजात-संस्कारणेऽपि

(पृ० ५२२ पं० ६) आपने यह कहा है, कि अपाय बुद्धि में भ्रममूलता को कारण कहना उचित नहीं, क्योंकि यहां व्याप्ति-ग्रहण नहीं हो सकता।

(उ० प०) परन्तु श्रीमान् जी ! विचार कीजिये :—आपका कथन तर्क रहित है, कि "भ्रममूल है इसका" यह समास स्वीकृत करने पर तो अपाय बुद्धित्व में उसका अर्थात् अपाय बुद्धि का कारणत्व है यही अर्थ निष्पन्न होता है। अपाय बुद्धि के हेतु होने पर अपाय बुद्धि साध्य नहीं रह सकती। भ्रम-मूलत्व को यहां पर हेतु नहीं माना है। भ्रममूलक अपाय बुद्धि में हेतु है। सामान्य हेतुभूत भ्रम में सामान्य अनिष्ट बुद्धि होती ही है।

इस प्रकार जहां-जहां भ्रम होगा, वहां-वहां अनिष्ट प्रतिपत्ति होगी। यह अव्यभिचारित हेतु है। इस प्रकार व्याप्ति सङ्गत होती है।

पृ० ५२२ अनु० ३) यहां पर आपने आक्षेप किया है, कि भूमिका के पूर्व संस्करणों में मुद्रण दोष था। जैसे एक देशाय तथा एक देशविकारिणि यह अपपाठ था। यह अपपाठ मुद्रण दोष से सम्भव हो सकता है जैसे आपके वेदार्थ पारिजात संस्करण में पृष्ट ४९२ पर "नमित्त-ज्ञाने" पृ० ५२४ पं० २ पर

'नमित्त-ज्ञाने' पृ० ४९२ कारणत्वऽपि (५२४ पं० २) इत्यादयः अपपाठाः सन्ति।

"एकदेशविकारिणि" इत्यस्य संगत्यर्थं सप्तम्यन्तस्य शब्देति-शब्दस्याऽध्याहारो विधेलिमः।

यदुक्तं 'एकदेश-विकारिणि' इत्यस्य स्थाने सनातनि-विदुषां परामर्शानुसारेण 'एकदेश-विकारे इति पाठः आर्यैः कृत इति मोदास्पदं भवते, परं भवन्तोऽशास्त्रीयमृत-श्राद्धादिकस्य स्थाने जीवित-श्राद्धादिकं कुतो नाङ्गीकुर्वन्ति इति तु अस्मत्खेदास्पदम्।

इदं पाठ-परिवर्त्तनं वास्तविकमवास्तविकं वेति तु तत्त्वविद एव विदन्ति, परमिह निर्मलोक्तिरियं नूनं संघटते।

नभो भग्नं भूत्वा भुवि नहि पतेदेतदचिरम्,
दिवान्धो ध्यात्वेदं ह्यवनतमुखश्चोर्ध्वचरणः।
ललम्बे नो हानिर्यदि स लभते तोषमधुना,
विदन्ति प्रज्ञानाः परमखिल-वस्तुस्थितिमिमाम्।

'कारणत्वऽपि' इत्यादि अनेक अपपाठ है। पर "एक देश विकारिणि" इस पाठ की सङ्गति के लिये सप्तम्यन्त 'शब्दे' शब्द' का अध्याहार कर लेना चाहिये।

"एक देश विकारिणि" इसके स्थान पर सनातनी विद्वानों के परामर्शानुसार "एक-देश-विकारे" ऐसा पाठ आर्यों ने कर लिया, यह आपके लिए प्रमोदास्पद है। परन्तु आप लोगों ने मृतश्राद्ध आदि के स्थान पर जीवित श्राद्ध आदि आज तक नहीं अपनाये और पाषाण पूजा में ही लगे रहे। यह हमारे लिए खेदास्पद है।

यह पाठ परिवर्तन वास्तविक है या अवास्तविक, यह तो तत्त्ववेत्ता ही जानते हैं, पर आपकी प्रसन्नता पर यह निर्मलोक्ति अवश्य घटित है।

यह आकाश टूट कर के शीघ्र ही भूमि पर न गिर जावे, यह सोचकर दिवान्ध (चमगादड़) नीचे को मुख और ऊपर को पैर करके लटक गया। हमारी इसमें कोई हानि नहीं, यदि उसकी इस कल्पना में सन्तोष मिल रहा है। परन्तु तत्त्ववेत्ता विद्वान् इसकी वस्तुस्थिति को अवश्य जानते हैं।

(पृ० ५२२ अनु० ४) यदुक्तं "किं निराकारेण.........
शब्दानामुच्चारणं सम्भवति ?............ नित्यत्वानपायात्"
इह स्थले 'उच्चारणेनाभिप्रकाशितः, इति महाभाष्यस्य अयमेवभिप्रायो यदस्माभिः प्रकाशितः न तु निराकारेण, इन्द्रियग्राह्यशब्दस्य उच्चारणस्य आवश्यकत्वात्। ईश्वरेण तु सृष्टयादौ प्रकाशिताः वेदा इति तु पूर्वमेव सुविशदं समाहितम्।

वाक्-क्रियायाः अनित्यत्वेऽपि नित्य-शब्दार्थ-सम्बन्धानां वेदानां नित्यत्वे न क्षतिः इत्यपि पूर्वमेव व्याख्यातम्।

"एकैकवर्णवर्तिनीवाक्" इति कथनेन वाक्-क्रिया विपरिणमते, तस्या एव च अनित्यत्वं न तु वाचः। एवमेकैक-वर्ण-निर्मित-पदवाक्य कदम्बकानां वेदानामपि नित्यत्वमक्षतम्। वर्णानां विभुत्वे नित्यत्वे च नानुपूर्व्याः असम्भवः। अस्मदादि-शब्दानां भ्रम-ग्रस्तार्थानामनित्यार्थ-सम्बन्धानां नास्ति नित्यत्वाऽऽपत्तिरिति तत्त्वम्।

(पृ० ५२३ पं० ७) आक्षे० "विनाश-रहितत्वात् शब्दो-

(पृ० ५२२ अनु० ४) 'क्या निराकार के द्वारा उच्चारित होने पर शब्दों की श्रोत्रग्राह्यता भी हो सकती है ? इस स्थल पर 'उच्चारण के द्वारा अभिप्रकाशित' इस भाष्य वचन का अभिप्राय है, हमारे द्वारा उच्चारित ताकि निराकार के द्वारा इन्द्रिय ग्राह्य शब्द का उच्चारित होना आवश्यक है। ईश्वर द्वारा सृष्टि के आदि में वेद प्रकाश हुआ, इस पर पर्याप्त कहा जा चुका है। वाक् क्रिया के अनित्य होने पर भी नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध वाले वेदों के नित्यत्व में कोई क्षति नहीं, यह भी कह दिया गया है।

'एकैकवर्णवर्तिनी वाक्' यह कहने से वाक् क्रिया में विपरिणाम होता है, उसी क्रिया का ही अनित्यत्व होता है न कि वाणी का। इस प्रकार एक-एक वर्ण से निर्मित पद वाक्य समूह वाले वेदों का भी नित्यत्व अक्षत है। वर्णों के विभुत्व और नित्यत्व में आनुपूर्वी की भी असम्भवता नहीं है। हमारे शब्द भ्रमग्रस्तार्थ वाले हैं और उनका अनित्यार्थ सम्बन्ध है, अतः इनकी नित्यत्वापत्ति नहीं है।

(प्र० ५२३० ६७) आक्षे०—विनाश रहित होने से शब्द नित्य है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विनाश रहित यह शब्द सूत्र से असम्बद्ध है।

नित्योऽस्ति, तदपि न युक्तं, विनाश-रहितत्वादित्यस्य सूत्राऽसम्बद्धत्वाद् व्यर्थत्वाच्च"।"

(समा०) "नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्" (पू. मी.१।१।१८) इति सूत्रे विनाश-रहितत्वादित्यसम्बद्धं नास्ति। तथा चांऽत्र 'तु' शब्देनानित्यत्व-शङ्कावारणं क्रियते,अनित्यं किं भवति? यद् विनश्यति नित्यत्वे विनाश-रहितता एव कारणमिति स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थं तद्वचनं सम्बद्धमेव सर्वथा। भवतामिदं सर्वं कथनं केन सूत्रेण सम्बन्धितम्? वस्तुतो न केनाऽपि। भवान् क्वचिद् वाक्छलेन, अन्यत्र सामान्यच्छलेन अपरत्र चोपचारच्छलेन दूषितं वाक्य-जालं प्रयुङ्क्ते।

यच्चोक्तं "प्रत्यभिज्ञानेनैव नित्यत्वसिद्धिः" इति, न सम्यक्, यतः प्रत्यभिज्ञान-भावस्तु 'सर्वत्र यौगपद्यात्' इत्यग्रिमस्यैव सूत्रस्य प्रतिपाद्यः न तु अस्य। एवं पूर्व-सूत्रस्य नित्यत्वापादनं निर्हेतुकं त्वद्रीत्या सिध्यति, 'प्रत्यभिज्ञानेनैव' अत्र 'एव' करणादिति। तथा च 'संख्याभावात्' 'अनपेक्षत्वात्' इत्यादीनामपि नित्यत्व-साधक-हेतूनां वैयर्थ्यापत्तिः। वस्तुतोऽत्र भवान् स्वाऽज्ञानेन महर्षि-जैमिनिमेव आक्षिपति।

समा०—पू० मी० के० १।१।१८ सूत्र में 'विनाश रहित होने से' यह कारण असम्बद्ध नहीं है।

क्योंकि इस सूत्र में 'तु' शब्द से अनित्यत्व की शङ्का का वातावरण किया जा रहा है। अनित्य क्या होता है? इस जिज्ञासा में यही कथन है कि जो विनष्ट होता है। नित्यत्व में विनाश रहितता ही कारण है, इस स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये यह वचन सम्बद्ध है।

आपका यह सारा कथन किस सूत्र से सम्बद्ध है? वस्तुतः कहीं पर वाक्छल से, अन्यत्र सामान्य से और इतरत्र उपचार छल से दूषित वाक्जाल आप प्रयुक्त कर रहे हैं।

आपका यह कथन कि "प्रत्यभिज्ञान से नित्यता सिद्ध हो जाती है" यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रत्यभिज्ञान तो इससे अग्रिम सूत्र में है, इस सूत्र का विषय नहीं। अर्थात् "सर्वत्र यौग पद्यात्" इस सूत्र का विषय है। आपकी दृष्टि से पूर्व सूत्र से नित्यत्व का कथन निर्हेतुक और व्यर्थ है, क्योंकि आपने "प्रत्यभिज्ञानेनैव में एव" कथन किया है। इसका अर्थ हुआ कि नित्यत्व में आपकी दृष्टि से केवल प्रत्यभिज्ञान ही हेतु होता है।

अत्रेदमपि समवधेयं यद् ऋषिणा न ह्यत्र शब्द-स्वरूप-सिद्ध्यर्थं मुच्चारणमुक्तं, प्रत्युत पर-प्रत्यायनार्थमेव तद्विहितम् अतो निरर्थक एव एष ते प्रपञ्चः।

यदुच्यते "दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वाद्" इत्यत्र षष्ठ्याः अनुपपत्तिरेव इति, परं न सा भवतः कथनमात्रेणैव अनुपपन्ना। १८८३ ईसवीय-संस्करणे सारसुधानिधि-यन्त्रालये मुद्रिते शबर-स्वामि-भाष्ये तु "परमर्थं प्रत्याययितुम् उच्चारित-मात्रे हि विनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यान् अर्थमित्यादि-पाठो वर्त्तते, परं भवताऽयं पाठोऽन्यथा कृतः। किमेष संस्करणस्य दोषः? उताहो 'अन्यान्' इति शब्द-विलोपनाऽभ्यासस्य? मन्ये, उभयोरपि तात्पर्यात्।

(पृ० ५२३ अनु० ३ पं० १६) अकिञ्चनधियस्ते तदपि न किञ्चित्, यच्चाह "शब्द-नित्यत्वं ज्ञाप्य-ज्ञापकत्वं च नोभयम्,

---

इस प्रकार "संख्या—भावात्," "अनपेक्षत्वात्" आदि सूत्रों से निर्दिष्ट नित्यता साधक हेतु व्यर्थ हो जायेंगे। इस प्रकार आप व्याज से महर्षि जैमिनि पर भी प्रहार कर रहे हैं। यह केवल आप अपने शिष्यों के प्रदर्शनार्थ तथा प्रभावार्थ जिसमे कि वे समझें कि आपकी कल्पना की उड़ान तो ऋषियों से भी आगे जाती है।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वामी जी ने यहाँ पर शब्दस्वरूप सिद्धि के लिये उच्चारण नहीं कहा है, प्रत्युत दूसरे के बोधन के लिये उच्चारण किया जाता है, यह कथन उद्दिष्ट किया है। अतः आपका यह समस्त कथन प्रपञ्च है।

यह कहना "दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्" षष्ठी की अनुपपत्ति है, यह आपके कथन मात्र से सिद्ध नहीं हो सकता। १८८३ ईसवी के मीमांसा संस्करण में जो सुधानिधि प्रेस से मुद्रित है। वहाँ शबर स्वामी के भाष्य में "न च अन्योऽन्यान् प्रत्याययितुम्" यह पाठ है, आपने 'अन्यान्' पद को निकालकर पाठ पढ़ा है, यह शब्द विलोपन का आपका अभ्यास अनुचित है।

क्योंकि अन्य और अन्यान् इन दोनों पदों की सार्थकता है। (पृ० ५२३ अनु० ३ पं० १६) अकिंचन-मति आपने "शब्द अनित्य होता ही नहीं अन्यथा

विद्यमानतायां प्रयोजकम् ।" महाशय ! अत्र कस्य विद्यमानता अपक्ष्यते ? विद्यमान-शब्दस्य विद्यमानता तु न सम्भवति, निष्प्रयोजनत्वात् । गोपदार्थस्यापि न, अनन्वयापत्तेः, नान्यस्य कस्यचिद् विकल्पानुपगमात् । वस्तुतः ज्ञाप्य-ज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् अतीतानागतयोरपि शब्द-ज्ञाप्यत्वं भवत्येव ।

"क्रोडे डिम्भः उपनिष्करे डिण्डिमघोष" इत्युक्तिमनुरुध्य सान्निध्येन ज्ञाप्य-ज्ञापकयोरन्वेष्टव्यत्वे अनल्पक्लिष्टं वितण्डया भवता, अनिष्टमतित्वात् । भिक्षुक ! विरम्यतां वाक्छलात् ? प्रतिपद्यस्व अर्थोपपत्तिं यद्ज्ञाप्य-ज्ञापकयोर्विद्यमानत्वं शब्दस्य नित्यत्वे सत्येव घटते इत्यर्थः ।

भवता इह तु जतुकागतिराश्रिता, पशुपक्ष्युभयगणनायै दशन-पक्ष-निदर्शनेनेव । पौराणिकेषु दोषदर्शनेन, कोविदेषु च 'नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापक-भावोऽप्युपपद्यते इति वचनेन, एवं तु अत्र विरोधोक्त्यापि ऋषि-सिद्धान्त एवाङ्गीकृतस्तदभिप्रायकवचन-रचनया ।

(पृ० ५२४ अनु० १) आक्षे०-नित्यत्व-सिद्धौ कणाद-सूत्रोद्धरणमुपहासास्पदम्, कणादेन शब्दानित्यत्वाम्युपगमात् ।'

(समा०) मस्करी सन्नपि सत्यप्रतिरोधीति गर्हणास्पदं यदयमुद्धरणं परिवर्त्य प्रवञ्चना-पूर्वकं प्रस्तौति —

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति कणादमुनिसूत्रं शब्दनित्यत्वं साधयितुमुदाजहार' (भूमिकाकारः) इति । तदिह विवेचकाः निष्पक्ष-चक्षुष्काः विभावयन्तु यदिदं प्रकरणं 'वेद-नित्यत्व-विचार' इत्यस्ति । ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकायाश्चाविकलमुद्धरणमिदम् "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' अस्यायमर्थः, तद्वचनात्तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद् धर्मस्यैव कर्त्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेद-चतुष्टयस्य प्राणाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यमिति ।"

गो शब्द का यह अर्थ है, यह अभिज्ञान अनित्य शब्द से कैसे हो सकता है" इसे भी आपने कह दिया कि कुछ नहीं, क्योंकि आप इसका तात्पर्य नहीं समझ सके ।

यह कथन कि "शब्द का नित्यत्व, ज्ञाप्य और ज्ञापकत्व दोनों ही विद्यमानता में प्रयोजक नहीं है" यह अस्पष्ट है । महाशय ! यहाँ पर आपको किसकी विद्यमानता अपेक्षित है । विद्यमान शब्द की विद्यमानता की अपेक्षा तो सम्भव ही नहीं, निष्प्रयोजन होने से । और गो पदार्थ की भी नहीं, क्योंकि संगति नहीं बैठती, तथा अन्य किसी अपेक्षा की भी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि विकल्प नहीं बनता । अतः शब्द के नित्यत्व की विद्यमानता में ही ज्ञाप्य ज्ञापक भाव की विद्यमानता संभव है, यही कथन पूर्णतया संगत है । वस्तुतः अतीत और अनागत में भी शब्द ज्ञाप्यत्व होता है ।

अन्वय की दृष्टि से सानिध्य के कारण ज्ञाप्य और ज्ञापक के साथ विद्यमानता का अन्वय है । आप तो 'गोद में बालक और बाजार में ढिढोरा' की कहावत सार्थक कर रहे हैं, अनिष्ट बुद्धि के कारण वितण्डा से प्रेरित भटक रहे हैं । हे भिक्षुक ! अब तो वाक्छल मत करो, अर्थ की उपयुक्ता को समझने का प्रयास करो कि ज्ञाप्य और ज्ञापक की विद्यमानता शब्द की नित्यता में ही सुघटित हो होती है ।

यहाँ तो आपने चमगादड़ की गति अपना ली है, जैसे वह पशुओं में गणना कराने के लिए दाँत दिखा देता है, और पक्षियों की गणना में पंख । इसी प्रकार आप आक्षेपों के उद्भावन से पौराणिकों में और ऋषि दयानन्द के उसी कथन के कुछ शब्द बदल कर "नित्यत्व होने पर ज्ञाप्य ज्ञापक भाव उत्पन्न होता है" यह कहकर अल्पज्ञ विद्वानों में प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिये प्रयास पर हैं । "नित्यत्व की सिद्धि में कणाद सूत्र का उदाहरण देना उपहासास्पद है, क्योंकि उन्होंने शब्द का अनित्यत्व स्वीकार किया है ।

समा०—मस्करी (सन्यासी) होकरभी सत्यार्थ का विरोध कर रहे हैं, यह उपाहासास्पद है । तथा उद्धरण को तोड़-मरोड़कर प्रवञ्चना पूर्वक कणाद् मुनि प्रस्तुत कर रहे हैं कि स्वामी दयानन्द ने तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' इस के सूत्र को शब्द-नित्यत्व सिद्ध करने के लिए उद्धृत किया है' सदसद् विवेचक निष्पक्षता से विचार करें कि यह प्रकरण वेद नित्यत्व विचार शीर्षक से है । ऋग्वेदादि भाष्य का अविकल उद्धरण इस प्रकार है और वैशेषिक सूत्रकार कणाद मुनि ने भी कहा है । 'तद् वचनाद्' इत्यादि, इसका यह अर्थ है कि उस धर्म और ईश्वर के वचन के कारण धर्म का ही कर्तव्यतया प्रतिपादन करने से ईश्वर के ही द्वारा उक्त होने से आम्नाय वेद चतुष्ट्य का प्रामाण्य सबको नित्य होने के कारण से स्वीकार करना चाहिये ।

इह वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं नित्यत्वेन स्वीकार्यमित्येव प्रतिपाद्यमस्ति, न च शब्दनित्यत्वमेतेन साध्यते। वस्तुतस्तु अनुत्पत्तिधर्माशब्दः नित्य एव, परंयदुक्तं तेन "तत्तु धाष्ट्र्यं" कणादैः शब्दानित्यत्वस्य सिद्धान्तितत्वात् इति, भोः करपात्र तत्पदेन किं काणाद-सूत्रोदाहरणमिहाभीष्टं यदर्थं धाष्ट्र्यमिति भवान् प्रयुङ्क्ते ? परंभोः नह्यत्र शब्द-नित्यत्व-चर्चा स्वामिना कृता, प्रत्युत वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यस्य नित्यत्वेन स्वीकृतिकथनं कृतमतो भवतः स्वमनीषादौर्बल्यमेव यद् यथार्थं नावगच्छति।

किञ्च काणादसूत्रे तदिति पदेन धर्मस्य ईश्वरस्य च द्वयोरपि ग्रहणं सर्वथा समुपपद्यते। स्वामिदयानन्दस्य आर्ष-प्रातिभ-चक्षुरुन्मीलितत्वादेतदपूर्वं दर्शनम्। तत्र दर्शने सूत्राणामेषक्रमो हेतुः।

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः,' 'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः,' 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति।' अत्र तत्छब्दस्य पूर्व-

---

यहाँ पर 'वेदों का प्रामाण्य नित्यत्वेन मानना चाहिए, यही प्रतिपाद्य है। शब्द का नित्यत्व इसके द्वारा साध्य नहीं। वस्तुतः अनुत्पन्न शब्द नित्य ही हैं। यह कहना कि 'वह तो धृष्टता है, क्योंकि कणादानुयायियों के द्वारा शब्द की अनित्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित है' इस कथन में 'तत्' पद से क्या कणाद सूत्र की ओर संकेत किया है। महाशय यहाँ पर— ऋषि ने इस सूत्र से शब्द के नित्यत्व को साध्य नहीं किया है, प्रत्युत वेदों का प्रामाण्य नित्यत्वेन स्वीकार करना चाहिए ऐसा कहा है। यहाँ आप बेलगाम होकर धाष्ट्र्य के द्वारा यथार्थ से भी असूया कर रहे हैं।

कणाद सूत्र में 'तत्' पद से धर्म और ईश्वर दोनों का ही ग्रहण समुपपन्न है। आर्षप्रातिभलोचन होने के कारण महर्षि दयानन्द को ही इस अपूर्वार्थ के दर्शन हो सके। क्योंकि वहाँ पर सूत्रों का क्रम भी यही है—"अथातो धर्म व्याख्यास्यामः' 'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः,' 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" इस अन्तिम सूत्र में तत् शब्द के पूर्व परामर्शक होने से 'धर्म' इस अर्थ की भी उपपन्नता सिद्ध है।

निष्कर्ष यह है, कि ईश्वर ने सृष्ट्यादि में धर्म का वर्णन वेदों में किया है। अतः वेदों का प्रामाण्य है। प्रकृत में यह भी ध्यान रखना चाहिये, कि मीमांसाकार जैमिनी के मत में अनुत्पन्न शब्द के नित्यत्व में कणाद और

परामर्शकत्वाद् धर्मार्थोपपत्तिरपि जायते। ईश्वरेण च धर्मस्य वर्णनं कृतमतएव ईश्वरप्रोक्तत्वाद्धर्मस्य आम्नायस्य चप्रामाण्यं सिध्यति। प्रकृते इदमपि अवधेयं यन्मीमांसाकारजैमिनिमते अनुत्पन्न-शब्दस्य नित्यत्वे काणादनैयायिकयोः मते कश्चन मौलिकः न भेदः, उद्भूत शब्दस्यैव आभ्यामनित्यत्वप्रतिपादनात्।

ईश्वरोक्तवेदानां तु न्यायवैशेषिकयोरपि मते नित्यत्वमस्त्येव। तथा च न्यायमते 'आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च शब्दानित्यत्वम्।' ज्ञानरूपवेदस्य तु अनादित्वादनैन्द्रियकत्वाद-कृतकत्वाच्च नित्यत्वमेव, अग्न्यादिषु ऋषिषु प्रकाशितत्वेनापि नानादित्वं विहन्यते।

न्याय-वैशेषिकाभ्यामुत्पत्तिमतः शब्दस्याऽनित्यत्वे महर्षि-पतञ्जल्यादीनां मते शब्दस्य नित्यत्वेऽपि परस्पर-शास्त्र-विरोधात् न सिद्धान्त-भेद आकलनीयः श्रुतिस्मृतिविरोधस्यैव सिद्धान्तभेद-प्रयोजकत्वात्। यस्मिन् हि विषये श्रुति-स्मृती उदासीने, तत्र सिद्धान्त-भेदो न मन्तव्यः। आप्तशास्त्राणां च शब्दनित्यत्वाऽनित्यत्व प्रतिपादन-प्रक्रियाभेद एव, न वास्तविको भेदः।

गौतम मुनि में कोई मौलिक भेद नहीं है। प्रकृत में यह भी जानना चाहिये कि जैमिनि के मत में अनुत्पन्न शब्द के नित्यत्व में कणाद और गौतम के शब्द नित्यत्व में कोई भेद नहीं, क्योंकि इन दोनों ने शब्द की अनित्यता कही है। क्योंकि उद्भूत की ही अनित्यता इन दोनों मुनियों द्वारा प्रतिपादित है।

ईश्वरोक्त वेदों का नित्यत्व तो यास्क, वैशेषिककार, के मत में भी है। न्याय में 'आदिमान्' इन्द्रिय का विषय होने और (कृत्रिम) कृतकवदुपचार होने पर तो उद्भूत शब्द की अनित्यता है। ज्ञानरूप वेद तो अनादि, अनैन्द्रियक और अकृतक (नैसर्गिक) होने से नित्य ही है, अग्न्यादि ऋषियों पर प्रकाशित होने से वेदों के अनादित्व का विघात नहीं होता।

न्याय और वैशेषिक द्वारा उत्पत्तिमान् शब्द की अनित्यता और महर्षि पतञ्जलि आदि की शब्द नित्यता में परस्पर सिद्धान्त विरोध नहीं समझना चाहिये। यहाँ ऐसा समझना चाहिये श्रुतिस्मृति का विरोध ही सिद्धान्त-भेद का प्रयोजक होता है परन्तु जिस विषय में श्रुति और स्मृति उदासीन हों वहाँ सिद्धान्त भेद न मानना चाहिये।

आधुनिकाः विद्वांसः प्रायेण गोतम-काणादौ शब्दस्य अनित्यत्वपक्ष-प्रतिपादकौ मन्वते। तत्रेदं जिज्ञास्यम्—यदीमौ अन्यशास्त्रकर्त्तृभ्यः पृथक् मतवन्तौ तदा इमौ आप्तौ, अन्ये वा शब्दनित्यत्ववादिनः ऋषय आप्ताः? तत्रेयमेव समाधान-दिशा या चोपरि आदिमत्त्वादिति सूत्रे प्रतिपादिता।

वाग्विषये एतद्विशिष्टं वेदितव्यं यत्

परावाङ्मूल-चक्रस्था, पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया, वैखरी कण्ठदेशगा॥

इत्यादिना वाचां गम्भीरं रहस्यं प्रोक्तं, यस्यानुसन्धानं शास्त्रीय-दृष्ट्या विधेलिममपेक्ष्यते। इह पण्डितवर्यस्य श्रीमदाद्याचरण झा-महोदयस्य वचांसि संदर्भ्यैवं पल्लवितं क्रियते।

१. यच्चतुर्विधा सा वाक् यदा क्रमशः स्थिति-वशाद् वैखरीभाव-

विचारशीलों के लिये स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये यह विषय और अधिक लिखा जा रहा है। क्योंकि विद्वान् लोग प्रायः महर्षि गोतम और कणाद के विषय में कहते हैं कि ये दोनों शब्द को अनित्य मानते हैं, जबकि व्यास आदि अन्य शास्त्रकार नित्य मानते हैं। तब प्रश्न उठता है कि, इनमें आप्त कौन है? शब्द को अनित्य मानने वाले या नित्य मानने वाले।

आप्त यथार्थ वक्ता होता है। अतः दोनों परस्पर विरोधी यथार्थ वक्ता हो नहीं सकते। वहाँ पर समाधान की दिशा वही है, जो ऊपर प्रस्तुत की गई है, कि उद्भूत शब्द ही तर्क की दृष्टि से आदिमान् इन्द्रिय-विषयक और कृतक होने से नश्वर है। इस विषय में और भी लिखा जा रहा है, कि अन्य ऋषियों से इन दोनों ऋषियों के मत में भी वास्तव में भेद नहीं है केवल नित्यत्व-प्रतिपादन की प्रक्रिया का भेद है।

किञ्च वाणी के विषय में कहा गया है, कि "परावाणी मूल चक्र में, पश्यन्ती वाणी नाभिचक्र में, मध्यमा हृदयचक्र में और वैखरी कण्ठ में रहती है। इसमें वाणियों का गम्भीर रहस्य बताया गया है, जिसका अनुसन्धान शास्त्रीय दृष्टि से करना चाहिए। यहाँ पर श्री पण्डित आद्याचरण झा महोदय के वचनों से ही इस विषय को पल्लवित करते हैं।

(१) कि यह ४ प्रकार की वाणी क्रमशः स्थितिवश वैखरी भाव उद्भुत

मुद्भूत-रूपत्वं प्रतिपद्यते तदा तर्ककलोचनेन महर्षिणा गोतमेन आदि-मत्त्वादित्यादिहेतुभिरनित्यत्वमभ्युपगम्यते। वस्तुतस्तु यथैकस्य आकाशस्य घटगृहादिविनाशे तद्गत आकाशो नश्यति अर्थादप्रत्यक्ष-तामुपैति, बुद्धेरपि तथैवाप्यंशब्दः।

२. एवमेव तर्क-वितर्कस्य बुद्धिवैशद्यस्य निवेश-प्रवेशस्य च सूक्ष्मतमसाधनमिदमेव न्यायशास्त्रमित्यत्र न कस्यचिद् वैमत्यम्, अतः शब्दानित्यत्व-विषये सर्वथा वाग्विलास- रूपेण एष विषयः।

३. वेदस्य नित्यत्वमङ्गीकुर्वताऽनेन महर्षिणा पराख्य-स्थित शब्दस्याऽपि नित्यत्वं मन्यते एवेति नास्ति प्रतिभावतामपरोक्षम्। अतो समेषामपि एतेषां शास्त्रकृतां नास्ति मूले भेदः कश्चन इति दिक्।

'तद्वचनाद्'० इत्यत्र 'तत्' शब्देन प्रतिपाद्यः धर्मशब्दश्चाभ्युदय-निश्श्रेयस-साधकः। केवलेश्वर-वचनाद् एतस्य प्रामाण्यं तु स्यादेव, परं प्रयोजन-पुरस्सरता तु दयानन्देन दर्शिताऽस्य परम-श्लाघ्या।

रूप अर्थात् श्रोत्रग्राह्यता को प्राप्त कर लेती है, तब तर्कलोचन महर्षि गोतम आदिमत्त्व आदि हेतुओं से अनित्य रूप में स्वीकार करते हैं। वास्तव में जिस प्रकार घट मठादि के नष्ट होने पर तद्गत आकाश जो कि महाकाश ही है औपाधिक भेद से घटाकाशादि नामों से व्यवहृत है, उसी प्रकार, परा, पश्यन्ती और मध्यमा का ही उद्भूत वैखरी रूप यह शब्द उच्चारण करने के बाद नष्ट अर्थात् अदृष्ट या अश्रोतव्य हो जाता है, वह आदिमान आदि हेतुओं से अनित्य कहा जायेगा। यही वचन मात्र अभिप्राय न्यायकार का है।

(२) इस प्रकार तर्क वितर्क के द्वारा बुद्धि-वैशद्य के निवेश और प्रवेश के लिये सूक्ष्मतम साधन यही न्यायशास्त्र है, इसमें किसी का वैमत्य नहीं है। अतः शब्द-नित्यत्व विषय में सर्वथा वाग्विलास मात्र ही है।

(३) क्योंकि जब ये महर्षि वेद का नित्यत्व तो स्वीकार करते ही हैं और वेद परावाणी-स्वरूप ही हैं परावाणी अर्थात् शब्द नित्य हैं, अतः इन शास्त्रकारों में कोई भेद नहीं।

धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस् का साधक है। वेदों के केवल ईश्वर-वचन होने के कारण प्रामाण्य तो सिद्ध है, परन्तु धर्मरूप प्रयोजन परक अर्थ तो बहुत ही श्लाघनीय है। तत् शब्द से धर्म और ईश्वर दोनों का ग्रहण करने

अत्रोद्धृतस्य तदप्रामाण्यमित्यादि-न्याय-सूत्रस्य भाषान्तरकारः सूत्रमिदं 'वेद-प्रामाण्यमनृत-व्याघात-पुनरुक्ति-दोषेभ्य इति परिवर्त्त्य पठति । एतदभ्युपगमनेन तु अनेन श्रुति-सत्यार्थ-प्रत्यर्थी कश्चित्प्रच्छन्नो नूतनः पन्थाः उद्घाट्यते ।

विस्मरणशील ! यच्चोक्तं "गुणवद्-वक्तृकत्वेनैव तैर्वचनस्य प्रामाण्याभ्युपगमात्" इति, । तत्तु असङ्गतमेव स्यात् । यदीह वचन-शब्देन वेदस्य तात्पर्यमस्ति तदा भवतामेष लेखो वे. पा. पृ. ५० गतः विरुध्यते, स च "पौरुषेये वचसि गुणवति वक्तरि तद्गुणापसारितदोषतया स्वाभाविकं प्रामाण्यमेव अनपोदितं तिष्ठति । न तु गुणकृतं प्रामाण्यं, गुणानां तदनङ्गत्वात् । वेदे प्रणेतुरभावाद् दोषाणां वक्त्रधीनत्वाद् दोषाभावात्, स्वतः प्रामाण्यमेव" इति । स एव हि पौर्वापर्यविरोधः । वस्तुतोऽयं दम्भी लेखकः प्रच्छन्नतया शास्त्रीय-सिद्धान्तानां खण्डनेन स्वपाण्डित्यातङ्कमश्रुत पुञ्जवेषु निर्बुद्धिषु प्ररोहयितु-कामः अनुमीयते यो हि :—

से यवन, ईसाई आदि मिथ्यामतों की प्रामाणिकता अपास्त हो जाती है, यवनादि मतानुयायियों द्वारा कुरान और बायबिल आदि के ईश्वर-रचित मानने पर भी उनमें 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस वाला धर्म लक्षण नहीं घटता । अतः ऋषि लोग जीवनोपयोगी धर्म का प्रवचन करने के कारण वेदों का प्रामाण्य मानते हैं ।

यहाँ नास्तिकता की पराकाष्ठा है जो कि 'तदप्रामाण्यम्' इस गोतमं सूत्र को भी तोड़ मरोड़ कर भाषाकार ने प्रस्तुत किया है कि "वेद का प्रामाण्य अनृत, व्याघात और पुनरुक्ति के कारण है" ऐसा मान लेने पर पूर्वपक्ष में भी अनृतादि दोषों के कारण वेद का प्रामाण्य प्रस्तुत हो जाता है जो इन पाषाण बुद्धियों का वस्तुतः यह वेद के सत्यार्थ का विनाशक प्रच्छन्न मार्ग है ।

श्रीमान् जी ! आपको अपनी पौर्वापर्य विरोधोक्तियों का भी ध्यान नहीं रहता । यह जो आपने कहा है, कि नैयायिकों ने गुणवद् वक्तृता के कारण ही वेदों का प्रामाण्य माना है । यह सब असङ्गत हो जाता है । यदि इस वचन में वेद से तात्पर्य है, तो वेदार्थ पारिजात पृ०५०पं० १०-१२ को देखिये: जो कि उक्त लेख के विरुद्ध है "पौरुषेय वचनों में गुणवान् वक्ता के होने पर उसके गुणों में दोषों के अपसारित होने पर स्वाभाविक प्रामाण्य बना रहता

मन्यते दोषमात्रं हि, चक्षुर्ज्योतिष्करं तिलम् ।
आत्मनश्चक्षुषो बिल्वं मन्यतेऽत्यर्थशोभनम् ।।

किञ्च भवत्प्रदत्तम् इह शङ्करमिश्रोद्धरणन्तु भूमिकोक्तमेव पुष्णाति । यच्चाभिहितं "शब्दो नित्यः प्रामाण्यात्, तद्वद्वेदो नित्यः तद्वचनात्, अत्र स्वरूपाऽसिद्ध-दोषः" इति । तदसङ्गतम् न्यायशास्त्राऽनभिज्ञानात् । यतो हि पक्षे हेतोरभावे हि स्वरूपाऽसिद्धो भवति दोषः, यथा शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्, इह चाक्षुषत्वं हेतुः शब्दे नाऽस्ति तथा ईश्वरावचनत्वं वेदे नास्तीति न घटते 'तद्वचनादिति प्रामाण्यात् ? एवं नात्राऽयं दोषः ।

न चापसिद्धान्तस्तल्लक्षणस्याऽघटितत्वात्, प्रत्युत भवानत्र स्वयमेव निरनुयोज्यानुयोग-नाम-निग्रहस्थाने निगडितः ।

है" वहाँ वक्ता का गुणीकृत प्रामाण्य नहीं है, पुरुषगत गुण शब्द के अंग नहीं हैं । वेद में उसका कोई प्रणेता न होने से दोषों की सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि दोष तो वक्तृगत होते हैं, अतः इनका स्वतः प्रामाण्य सुतरां सिद्ध है" यहां पर आप नैयायिकों के विरुद्ध होकर वेदों का रचयिता ईश्वर को स्वीकार नहीं करते ।

वस्तुतः करपात्री जी प्रच्छन्न रूप से सर्वशास्त्रीय सिद्धान्तों का खण्डन कर अपने पांडित्य की धाक पोगों और थोथे लोगों पर जमाना चाहते हैं । सत्य है:—पक्षपाती लोग दूसरे के नेत्रों की ज्योति के कारणभूत काले तिल को दोष रूप में प्रस्थापन करते हैं, और अपनी आंख के बिल्व सम दोष अर्थात् टेंटरे को भी शोभाजनक मानते हैं । महाराज आपका दिया हुआ शकर मिश्र का उद्धरण भूमिका के कथन की ही पुष्टि करता है ।

यह कहना कि 'शब्द नित्य है प्रमाण होने से, उसी प्रकार वेद नित्य है ईश्वरोक्त होने से । यहाँ पर स्वरूपासिद्ध दोष है" यह असङ्गत है, क्योंकि पक्ष में हेतु का अभाव हो वहीं पर स्वरूपासिद्ध हेतु होता है । जैसे शब्द अनित्य है चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष होने से, यहां चाक्षुषत्व हेतु नहीं घटता, क्योंकि शब्द श्रवण द्वारा ग्राह्य होता है, पर वेद नित्य हैं ईश्वर द्वारा कथित होने से, जैसा कि 'तद् वचनात्, इससे सिद्ध है । फिर यह असिद्ध हेतु तो नहीं हुआ ।

फिर अपसिद्धान्त की बात कहने से प्रतीत होता है कि आप न्याय के

(पृ. ५२५ अनु. १) मन्त्रायुर्वेदेत्यादि गोतम-सूत्र (२।१।६८) प्रसङ्गे तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्यम् ।" इत्युक्तौ शब्दानित्यत्व-वादिनां नये दयानन्दोक्त 'नित्याना' मिति-विशेषणानुपपत्ति र्भवतीति चेन्न, मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्चेति सूत्रे वात्स्यायनेन मुनिना "नित्यत्वाद् वेद-वाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्य-माप्त-प्रामाण्यात्" इत्यत्र वेद-वाक्यानां नित्यत्वं तु अस्ति परं प्रमाणत्वे आप्तप्रामाण्यादित्येव हेतुः स्वीकृतो, न तु नित्यत्वमिति वेद्यम् । तस्मान्नित्यानामिति विशेषणं सूपपन्नम् । तथा च-भाष्ये मन्वन्तर युगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाऽभ्यास-प्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्" इत्यत्र आप्त-प्रामाण्यादेव प्रामाण्यं स्वीकृतम् ।

विपश्चितो विचारयन्तु यदृषिर्दयानन्दस्तु गोतममुनिनाम्न-'मन्त्रायुर्वेद'...... सूत्रं प्रस्तुत्य नित्यवेदं प्रमाणयति,परं वे० पा० लेखकस्तु निरुक्त-सूत्रे नित्यत्वबोधक-पदाऽभावाच्च इत्यपदेशं प्रस्तौति, किं नैतद् वञ्चनम् ? न वोपहास्यम् ?

(५।२।२४) सूत्र में कहे इस अपसिद्धान्त का लक्षण ही नहीं जानते अतः इसके अभाव में आप ही 'निरनुयोज्यानुयोग नामक स्थान में आ फंसे ।

(प्र० ५२५ अनु १) आक्षेप-मन्त्रायुर्वेद इत्यादि सूत्र में 'नित्य ईश्वरोक्त वेदों का प्रामाण्य सबको स्वीकार करना चाहिए' इस भूमिका कथन में शब्द को अनित्य मानने वालों के मत में 'नित्यानाम्' यह विशेषण अनुपपन्न होगा।"

समा०—यह कथन ठीक नहीं, इस सूत्र के भाष्य में मुनि वात्स्यायन ने यहां वेद वाक्यों की नित्यता है और इनकी प्रमाणता आप्त प्रामाण्य के कारण है यहां पर वेद वाक्यों की नित्यता तो है, परन्तु वेदों के प्रामाण्य में 'आप्त प्रामाण्यात्' यह हेतु प्रस्तुत किया है, अतः ऋषि ने भी प्रामाण्य में यही हेतु स्वीकृत किया है, 'प्रामाण्य में नित्यत्व को हेतु रूप में प्रस्तुत नहीं किया अतः 'नित्यानाम्' यह विशेषण सर्वथा उपपन्न है। वस्तुतः नित्यत्व और आप्त प्रामाण्य दोनों ही हेतु यहां पर एकरूपता से उपपन्न हो सकते हैं, कोई भेद नहीं।

इस प्रकार भाष्य में भी लिखा है कि "मन्वन्तर युगान्तरों में (जो अतीत और अनागत है) सम्प्रदाय के अभ्यास के प्रयोग का अविच्छेद वेदों का नित्यत्व है" यहां पर आप्त प्रामाण्य से ही प्रामाण्य स्वीकृत है।

(आक्षे.) वात्स्यायनभाष्ये यच्च वक्ष्यते-'नित्यत्वाद्वेद-वाक्यानां (मीमांसाकारेणमतेऽपि) तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादिति उक्तं, (पृ० ५२८ पं० ३) अत्र स्वामिना (दयानन्देन) अयुक्तमितिपाठस्य स्थाने उक्तमिति अपपाठः कृतः ।

(समा०) तत्र 'अयुक्तम्' इति स्थाने 'उक्तमिति पाठे अयमभिप्रायो यत् सिद्धान्तपक्षे वात्स्यायनेन मुनिना 'प्रमाणत्वे' आप्त-प्रामाण्यात्'इत्येव सिद्धान्तितत्वेन उक्तम् । प्रामाण्ये 'नित्यत्वादिति' तु हेतुत्वेन कथनम् अयुक्तमित्येव ऋषिदयानन्देनाऽत्र दर्शितम् । नहि अत्राऽविकलोऽक्षरशः पाठउद्धृतः, प्रत्युत-उत्तर-पक्षे साधित-सिद्धान्त एवोपन्यस्तः ।

(पृ० ५२५ अनु० २) आक्षेपः—"आप्तैर्ब्रह्मादिभिः वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतो वेदानां प्रामाण्यमिति त्वदर्थस्य (दयानन्दार्थस्य) अशुद्धत्वात् तत्कथनमसङ्गतम् यतोहि वेदानां प्रामाण्यमाप्तैरङ्गीकृत-त्वान्न प्रमाणं, किन्तु आप्तोपदेशत्वादेव वचनमात्रे प्रामाण्यमिति ।

विद्वान लोग विचार करें कि महर्षि दयानन्द तो गोतम मुनि के नाम से "मन्त्रायुर्वेद" सूत्र को प्रस्तुत कर नित्य वेद की प्रमाणता सिद्ध कर रहे हैं, परन्तु वेदार्थ पार० का लेखक "निरुक्त के सूत्र में नित्यत्व बोधक पद नहीं है यह अपदेश प्रस्तुत कर रहा।" क्या यह प्रवञ्चना नहीं है ? और क्या इनकी समझदारी उपहास योग्य नहीं है ?

आक्षेप—वात्स्यायन भाष्य में "नित्यत्व से वेद वाक्यों का (यह मीमांसा-कार के द्वारा स्वीकृत होने पर भी) प्रामाण्य आप्त प्रामाण्य से 'उक्त' हुआ है।" यहां पर स्वामी जी ने 'अयुक्तम्' इसके स्थान पर 'उक्तम्' लिखा है।

समा०—यहां पर ऋषि दयानन्द का यह अभिप्राय है कि सिद्धान्त पक्ष में वात्स्यायन मुनि ने 'प्रामाणिकता में आप्त-प्रामाण्यात्' यही हेतु कहा जो ठीक है और प्रामाण्य मानने में 'नित्यत्वात्' यह हेतु अयुक्त है। यहां पर अक्षरशः अविकल पाठ उतारना उद्दिष्ट नहीं है। केवल उत्तर पक्ष में साधित सिद्धान्त ही प्रस्तुत करना उद्दिष्ट है।

(पृ० ५२५ अनु० २) आक्षेप—'आप्त ब्रह्मा आदि ने वेदों का प्रामाण्य स्वीकृत किया है, इसलिये वेदों का प्रामाण्य है" यह स्वामी दयानन्द कथित

(समा०) 'मन्त्रायुर्वेद······' अत्र आप्तप्रामाण्यात् अर्थात् पूर्वमाप्तैर्यत् प्रमाणीकृतं तदनु उपदिष्टम् इह प्रमाणानङ्गीकरणं तु न कथमपि ध्वन्यते । अतो भवत्कथनं तु अविचारचारु, तत्रेदं विचार्यं यद् एतत् प्रामाण्यमन्येषां कृते, आहोस्वित् स्वोपदेशानन्तरं स्वकृतेऽपि ? पूर्वं प्रामाण्यमनभिध्यायद्भिः पश्चात् प्रामाण्यस्वीकृत्यसङ्गतेर्न ते समग्रं कथनं संगच्छते ।

इह तु 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' इत्यनुरूपं भवता एवं वदता 'यदस्माकमृषयो नाऽऽगृह्णन् कमपि स्वोपदेशान् मन्तुम्—ते समेषां सम्मुखे स्वानुभवान् उपास्थापयन्, यत्ते उचितानुचितं विविच्य गृह्णीरन् न वेति वदता वात्स्यायनमुनेरभिप्रायः कदर्थीकृतः, आप्तानां यथार्थ-ज्ञानत्वेन उचितेषु सूपदेशेषु अनौचित्याऽसम्भवात् । अनाप्तैश्च शिष्यैः औचित्यानौचित्य-सामर्थ्याऽऽकलनाऽभावाच्च न कर्त्तव्यमतिरिच्य स्वैरितोपदिश्यते क्वचित्, तस्या अनुपदेश्यत्वात् ।

अर्थ अशुद्ध है क्योंकि वेदों का प्रामाण्य आप्तों से स्वीकृत किया है, अतएव प्रमाण नहीं माना जा सकता, किन्तु आप्तोपदेश होने के कारण से ही वचन मात्र में प्रामाणिकता है ।

समा०—'मन्त्रायुर्वेद—'इस सूत्र में 'आप्त प्रामाण्यात्' का अर्थ है कि आप्त पुरुषों ने पहले जो प्रमाणित किया, उसे फिर उपदिष्ट किया । यहाँ प्रमाणों का अस्वीकरण तो कथमपि ध्वनित नहीं होता अतः आपका कथन प्रलापमात्र है । यहाँ पर लगे हाथों यह भी विचार कर लेना चाहिये कि यह जो प्रामाण्य है वह अन्यों का अन्यों के लिये है, अथवा अपने उपदेश के अनन्तर अपने लिये भी है यदि पूर्व प्रामाण्य न माना जावे तो पश्चात प्रामाण्य की स्वीकृति तो असङ्गत हो जायेगी, अतः आपका कथन सर्वथा असङ्गत है ।

यहाँ पर 'गणेश बनाने के प्रयास में आपने बन्दर की रचना कर डाली' यह जो कि ऐसा कह रहे हैं कि हमारे ऋषियों ने अपने उपदेशों को मनवाने के लिये किसी से आग्रह नहीं किया है । फिर 'ह्रिया देयम्' 'भिया देयम्' आदि की उपदेश्यता निरर्थक ही हो जायेगी और यह कथन कि "वे ऋषि सबके सामने अपने अनुभवों को उपस्थित कर देते थे, तब शिष्य लोग उपदेशों को उचित और अनुचित विचार करके ग्रहण करे या न करे" ऐसा इस सूत्र से ध्वनित करना आपके दिमाग का दिवालियापन है, क्योंकि आपने वात्स्यायन मुनि के अभिप्राय का विनाश कर दिया । आप्तों का ज्ञान तो यथार्थ ही होगा, उनके उचित उपदेशों में अनौचित्य कदापि सम्भव नहीं । और अनाप्त शिष्य औचित्य का आकलन कैसे कर सकेंगे ? कर्त्तव्य के अतिरिक्त महर्षियों के द्वारा कहीं भी स्वेच्छाचारिता का उपदेश नहीं दिया जाता, क्योंकि स्वैरिता उपदेश्य नहीं हो सकती । कर्त्तव्य प्रवर्त्तन विधिमुख और निषेध मुख दो ही प्रकार से होता है विधिमुख से उपदेश की उपादेयता और निषेध मुख से हेयता ही उपदिष्ट होती है ।

किञ्च कर्त्तव्य-विधानं हि द्विधा, विधिमुखेन निषेध-मुखेन च आद्येन उपादेयमन्तिमेन हेयमिति । एवं हेयमधिगन्तव्यं चोपदिश्येते तैरेव आप्तै,र्न च अनाप्ताधीनमुचितानुचित-परीक्षणं युक्तम् । मुनेस्तात्पर्यमत्र साधितेन त्वया अपध्वस्तम् । तथा च "आप्ताः खलु साक्षात् कृत-धर्माणः इदं-हातव्यं, हानिहेतुरिदं, इदमस्याधिगन्तव्यं, इदमस्याधिगम-हेतुरिति भूतान्यनुकम्पन्ते ।" (वात्स्यायन भाष्यम्)

तेषां खलु प्राणभृतां स्वयमवबुध्यमानानां नान्यदुपदेशाद् अवबोध-कारणमस्ति । कृतकृत्यता तु नोपदेश-श्रवणेऽपि विरोचनवद् इत्यनुसांख्यम् ।

अहो ! कान्योत्तरा धृष्टता यत् सनातनिसाधुवेशेऽयं श्रद्धालून् स्व-

---

इस प्रकार हेय और उपादेय का उपदेश उन्हीं आप्तों द्वारा उपदिष्ट होता है । उस उपदेश का उचितानुचित परीक्षण अनाप्ताधीन करना कदापि उचित व सम्भव नहीं । मुनि का तात्पर्य तो किराये पर उठे हुये मस्तिष्क वाले आपने, ध्वस्त कर दिया और साक्षात्कृत धर्मा ही आप्त कहाते हैं वे 'यह छोड़ना चाहिए, यह हानि का हेतु है, 'यह इसे प्राप्त करना चाहिये, यह इसकी प्राप्ति का हेतु है, इस प्रकार उपदेश देकर प्राणियों को अनुगृहीत करते हैं ।' (वा० भा०) उन प्राणधारियों का स्वयं ज्ञानी जनों के उपदेश के अतिरिक्त अवबोध का कोई कारण नहीं है । उपदेश सुनने पर भी कृतकृत्यता विरोचनवत् नहीं हो पाती, यह सांख्य के सिद्धान्तों से अनुगत है । अहो ! इससे अधिक और धृष्टता क्या हो सकती है कि सनातन साधुवेश में श्रद्धालु धार्मिकों को अपने पांडित्य छद्म से कुपथ पर प्रेरित करने के लिये ऋषि मुनियों के अभिप्राय को उल्टा प्रस्तुत कर रहे हैं ।

पाण्डित्यव्याजेन अपथे गमयितुं ऋषिमुन्यभिप्रेतं विपर्यासयते । तदेवं दयानन्द-व्याख्यानमेव सूत्रभाष्यानुरोधि ।

किञ्च उपदेशस्वरूपमपि निभालयतु यथाः—'अपोऽशान, कर्मंकुरु, दिवा मा स्वाप्सीः, आचार्याधीनो वेदमधीष्व इत्यादावुपदेशे नोपदेश्यस्य स्वैरितानुशिष्टा । यथा च भवान् ग्राह्यतायां स्वैरितामनुमनुते, तस्माद् उपदेशो हितावहोऽनिवार्यत्वेन ग्राह्य एव, न तु भागत्यागलक्षणाऽत्र संघटते ।

(पृ० ५२६ अनु० १) (पू० प०)—अत्र मन्त्रायुर्वेद०' इत्यादि सूत्र प्रसङ्गे असङ्गतं वक्तुर्भवतः आक्षेपद्वितयम् तथाहिः—

१. मन्त्राणामित्यस्य विचाराणामित्यर्थे भाष्यविरोधः ।

२. सत्यत्वहेतुना वेद-प्रामाण्यसिद्धि-चेष्टाऽन्योन्याश्रयदोषदूषिता, यतः सत्यत्वे सिद्धं प्रामाण्यं प्रामाण्ये च सिद्धे सत्यत्वं सिध्यतीति ।

(उ० प०) १. अस्मिन्नेव न्याय-सूत्रे (२।१।६७) मन्त्रेतिपदेन

अब निष्पक्ष विद्वान इस निश्चय पर अवश्य पहुंचेंगे कि महर्षि दयानन्द-कृत व्याख्यान ही सूत्र और भाष्य के अनुरूप है । साथ ही आप अपने मान्य ग्रन्थों में उपदेश का स्वरूप भी देखिये— 'चन्द्र-सूर्य ग्रहण में 'तीर्थ में, सिद्ध क्षेत्र में, शिक्षालय में मन्त्र-मात्र का प्रकथन ही उपदेश कहाता है ।' जैसे आचमन करो, कर्म करो, दिन में न सोओ, आचार्य के अधीन रहकर वेद पढ़ो ।' इत्यादि उपदेश में उपदेश्य ब्रह्मचारी के लिये स्वेच्छाचारिता कहाँ है ? कि तुम इस उपदेश में जो समुचित हो उसे मानो और उस पर आचरण करो तथा जो उचित नहीं उसे न मानो । इसलिये उपदेश तो हितकारक ही होता है और उसे ग्रहण ही करना चाहिए, यहाँ पर भागत्याग लक्षणा अर्थात् कुछ मानो और कुछ न मानो यह घटित नहीं होती ।

(पृ० ५२६ अनु०१) पू० प० यहाँ पर मन्त्रायुर्वेद सूत्र प्रसंग में 'असङ्गत' कहने वाले आपके दो आक्षेप हैं । १. 'मन्त्राणाम्' इसका विचार अर्थ करना भाष्य का विरोध है ।

२. सत्यत्व हेतु से वेद के प्रामाण्य की चेष्टा अन्योन्याश्रय दोष से दूषित है क्योंकि सत्य सिद्ध होने पर प्रामाणिकता होगी और प्रामाणिकता होने पर सत्यत्व की सिद्धि होगी ।

विचार इत्येवार्थो गृह्यते न तु ऋगादिमन्त्रास्तेषां प्रामाण्यस्येह साध्य-विषयत्वात् । अतएव सत्य-पदार्थविद्या-प्रकाशकाणां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन हेतुना प्रामाण्यं भवतीति कथिनमृषिणा । विचारार्थे तु मन्त्र-शब्दस्य बहुत्र प्रयोगो दृश्यते, यथा 'प्रभावोत्साह मन्त्रजाः शक्तयः' 'तस्य संवृतमन्त्रस्य' 'मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्य संयुतः' (म०७।५८) 'मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः' (म.७।१४६) ।
किञ्च ऋषि-व्याख्याने—भाष्य विरोधः कथमिति न दर्शितम् ।

२. भवन्मुखं हि अवल्गमिति किमपि ब्रूताम्

एतत् सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायन-मुनिनाप्येवं प्रतिपादितम् । द्रष्टृप्रवक्तृ सामान्याच्चानुमानं य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेद-प्रभृतीनामित्यायुर्वेद-प्रामाण्यवद् वेद-प्रामाण्यमनुमातव्यमिति नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्त प्रामाण्यादित्युक्तम् ।

उ० प०—१ इस न्याय सूत्र में मन्त्र इस पद का अर्थ विचार ही ग्राह्य है, न कि ऋगादि वेदों के मन्त्रों का ग्रहण ।

क्योंकि ऋगादि मन्त्रों का प्रामाण्य तो यहाँ साध्य ही है । इसीलिये जैसे सत्य पदार्थ विद्या-प्रकाशक मन्त्रों का अर्थात् विचारों का सत्य होने से प्रामाण्य होता है, यह ऋषि ने कहा है । विचार अर्थ में मन्त्र शब्द का बहुधा प्रयोग भी होता है, जैसे—प्रभाव, उत्साह और मन्त्रज अर्थात् विचारज शक्तियाँ 'तस्य संवृत मन्त्रस्य'-तथा मनु के ७।५८ श्लोक और ७।१४६ श्लोक में मन्त्र का अर्थ विचार है । अतः मन्त्र का अर्थ विचार नहीं होता, यह कथन निर्मूल है ।

ऋषि दयानन्द के व्याख्यान में भाष्य का विरोध कैसे है, यह नहीं बताया । भाई आपके मुख में सम्प्रति कोई लगाम तो है नहीं, जो चाहो सो कहो ।

इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने प्रतिपादन किया है । द्रष्टा और प्रवक्ता के समान होने से अनुमान होता है जो वेदार्थों के द्रष्टा और प्रवक्ता हैं वे ही आयुर्वेद आदि के भी, अतः आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान वेदों का भी प्रामाण्य जानना चाहिये नित्य वेद वाक्यों के आप्त प्रामाण्य होने से वेदों का प्रमाणत्व कहा गया है इसका आशय यह है कि सर्वथा आप्त परमेश्वर से कहे वेदों का सभी आप्त पुरुषों ने प्रामाण्य माना है अतः वेद स्वतः प्रमाण हैं ।

अस्यायमाशयः ..... तथा सर्वथाऽऽप्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैःप्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वात् वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम् । नेह च अन्योन्याश्रयदोषो यतो हि नहि सत्यहेतुदानेनप्रामाण्यकरणचेष्टा, 'निज शक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्' (सां ५।५१) अर्थात् ईश्वरस्य स्वविद्या शक्ति सामर्थ्येन वेदानामृषि-हृदयेषु अभिव्यञ्जनात् स्वतः एव प्रामाण्यं नित्यत्वं च सिद्धम्, अतः स्वयमेव भवान् निरयोज्यानुयोगेन निगृहीतः ।

(पृ. ५२६ अनु०) वेद-प्रामाण्ये "मन्त्रायुर्वेद, इति सूत्रं स्वामिना समुदाहृतं, परमार्थविबोधनासमर्थस्य भवतः कृते तन्निरर्थकमेव जातम् ।

ननु 'स्थालीपुलाक-न्यायेन अन्य-पुलाक-प्रत्यक्षताऽर्हत्वाद् वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षवददृष्टार्थ-विषयस्य वेद-भागस्य तथा प्रत्यक्षत्वाऽसम्भवात्" एतदुदाहरणस्यासङ्गतिरिति चेन्न, वेदानामपि योगिनां योगजप्रत्यक्षत्वात् । किञ्च 'लीनवस्तुलब्धातिशय-सम्बन्धाद् वाऽदोषः, (सां. १।९०।९१) इति । अपि च 'दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेनायुर्वेदेनाऽदृष्टार्थो

अन्योन्याश्रय दोष इसलिये नहीं कि यहां सत्य हेतु देने से प्रामाण्य करने की चेष्टा नहीं है । क्योंकि निज शक्त्यभिव्यक्ति से स्वतः ही प्रामाण्य है ईश्वर के अपने सामर्थ्य से ऋषि हृदयों में वेदों की अभिव्यक्ति करने से स्वतः प्रमाण होने पर सत्यत्व सिद्ध ही है, फिर अन्योन्याश्रय दोष है भी नहीं । अतः आप स्वयं ही 'निरनुयोज्यानुयोग' निग्रह स्थान में आ पड़े ।

(पृ० ५२६ अनु० २) महर्षि गोतम ने २।१।६८ सूत्र को वेद प्रामाण्य में प्रस्तुत किया है, उसे ही स्वामी दयानन्द ने यहां उद्धृत कर दिया, लेकिन वास्तविक अर्थ समझने की तो स्वयं में शक्ति नहीं, अतः तुम्हें सब कुछ निरर्थक सूझ रहा है ।

शङ्का—स्वामी दयानन्द ने जो 'मन्त्रायुर्वेदवत्' यह उदाहरण दिया है । मन्त्र तथा आयुर्वेद में एक देश का प्रामाण्य देखकर उनके भाग का भी प्रामाण्य स्थाली पुलाक न्याय से ही कहना होगा ।

जैसे—स्थाली के कतिपय पुलाक (चावल कण) के समान उसके अन्य पुलाक भी प्रत्यक्ष करने योग्य रहते हैं, किन्तु वेदों में वैसा सम्भव नहीं, क्योंकि वेदोक्त एक देश जैसा प्रत्यक्ष है, वैसे वेद का अदृष्टार्थ विषय अन्य भाग का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं ।

वेदभागोऽनुमानतव्यः प्रमाणमिति । आप्त-प्रमाणस्य हेतोः समानत्वादिति । आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यं लौकिकेषु शब्देषु चैतत्समानमिति वात्स्यायनभाष्यम् इति प्रमाणाच्च वस्तुतो नावश्यकताऽन्यपुलाकप्रत्यक्षताऽपेक्षिणः । अथवा न्याये विद्यमाने स्थाल्यां यथैकः पुलाको दृष्टः, परमन्ये न दृक्पथमवतीर्णाः अपरीक्षिता सन्तोऽपि पक्वा अनुमीयन्ते तथैवाऽत्रापि । आयुर्वेद-शास्त्रं हि नाम अथर्ववेदस्य उपाङ्गम्, यथाह भगवान् सुश्रुतः 'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य" मन्त्रेषु चायुर्वेदः प्रत्यक्षरूपेण उपदिष्टस्तस्य च प्रामाण्यं लोक-सिद्धम् । तथैव अतीन्द्रिय-विज्ञान-प्रतिपादकस्य वेदभागस्यापि प्रामाण्यं, प्रत्यक्ष-विषयभूतायुर्वेदवत् ।

(पृ- ५२७ अनु. १) इदं तु सत्यं यन्मन्त्ररूपा एव वेदाः, परमेकतस्तु भवान् कथयति 'कस्य वेदोक्तार्थस्य प्रत्यक्षता' ? अपरतः प्रस्तौति

समा०—उक्त कथन सत्य नहीं, क्योंकि योगियों के लिये वेदों का भी योगज प्रत्यक्ष है । सां० १।९०-९१ सूत्रों में अतीतानागत तथा व्यवहित विषयों के प्रत्यक्ष करने के लिये योगी की इन्द्रियों में योगबल से दिव्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे उसे सब प्रत्यक्ष हो जाता है और भी देखिये—"दृष्टार्थ आप्तोपदेश से आयुर्वेद में अदृष्टार्थ वेद भाग का भी प्रमाण अनुमानमन्य है, आप्त प्रमाण का हेतु लौकिक शब्दों में भी समान है" (वा. भा.) से । इस प्रमाण से वास्तव में तुम्हारा स्थाली पुलाक न्याय जो प्रत्यक्षता अपेक्षी है वह यहां घटित ही नहीं होता । अथवा इस न्याय की विद्यमानता में स्थाली में जैसे एक पुलाक देख लिया लेकिन अन्य तो नहीं देखे गए हैं, उसी प्रकार अदृष्ट होते हुए भी अन्न के पके हुए होने का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार यहां पर भी घटित है । आयुर्वेद शास्त्र तो अथर्ववेद का उपाङ्ग है । जैसा कि भगवान सुश्रुत ने कहा है 'इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य' मन्त्रों में आयुर्वेद प्रत्यक्ष रूप से उपदिष्ट है । उसका प्रामाण्य लोक सिद्ध है । उसी प्रकार अतीन्द्रिय विज्ञान प्रतिपादक वेद भाग का भी प्रामाण्य प्रत्यक्ष-विषय-भूत आयुर्वेद के समान है ।

(पृ० ५२७ अनु०१) यह तो सत्य है कि मन्त्र रूप ही वेद हैं । परन्तु एक ओर तो आप पूछते हैं कि किस वेदोक्त अर्थ की प्रत्यक्षता है ? दूसरी ओर आप आक्षेप करते हैं कि "स्वामी दयानन्द के मत में अग्निहोत्रादि का भी, वायु

यत् स्वामी दयानन्द-मते 'अग्निहोत्रादीनामपि वायुशुद्धि-रूप-दृष्ट फलस्यापि अङ्गीकारात्'। अग्रे ब्रूते 'नापि कश्चिददृष्टार्थको वेद-भाग स्त्वन्मते' सम्प्रत्येव च प्रत्यपादि 'वेदोक्तार्थस्यैक-देशप्रत्यक्षवददृष्टार्थ-विषयस्य वेदभागस्य प्रत्यक्षत्वाऽभावात्'।

भो: कापालिक ! कीदृशोऽयं भवतो वदतो-व्याघातो मानसो व्यामोहश्च ?

यदुक्तं "चित्रकारीर्यादिकर्मणां प्रत्यक्ष-फलता तु ब्राह्मण-भागमपि वेदत्वेन मन्यमानानां मते एव, न त्वन्मते ब्राह्मणं वेदः। विधेयश्च केवलं ब्राह्मणेष्वेव" इति। तदेतत्तु प्रलापमात्रमेव भवतः। कारीर्या वृष्टि-कामो यजेत (मैत्रा. सं. २।४।८) इत्यादिप्रमाणोपलम्भात्। यदुक्तं च "त्वदभिमतेषु मन्त्ररूपेषु वेदेषु विधानाऽभावात्" इति विषये इदमे-वोच्यते यन्मन्त्रा अभिधायकास्तु सन्त्येव, परं विधीनामसत्त्वेऽभिधाय-कत्वेऽवैदिकत्वमापतेत् तथा च 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्याः' (मीमां. २।१।३२) 'अत्र बसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते' अयं मन्त्रः कर्म-विधायकोऽपि सन् न ब्राह्मणगतः। आधुनिका अनधिगत-शास्त्रतत्त्वज्ञाः

शुद्धिरूपदृष्ट फल स्वीकार किया गया है।" पुनः कहते हैं—"स्वामी दयानन्द के मत में कोई वेद भाग अदृष्टार्थक नहीं है। और अभी-अभी कहा है कि "वेदोक्तार्थ के एक देश प्रत्यक्ष के समान अदृष्टार्थ विषयक वेद भाग का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।"

हे कापालिक। यह आपका सर्वथा वदतो व्याघात तथा उन्मत्त प्रलाप ही है।

यह कहना कि—"चित्रकारीरी आदि कर्मों की प्रत्यक्षफलता तो ब्राह्मण भाग को भी वेद रूप में मानने वालों के मत में ही है न कि तुम्हारे (स्वामी जी के) मत में ब्राह्मण वेद हैं और विधियां केवल ब्राह्मणों में ही हैं" यह सब आपकी बकवास है। 'कारीरी से वृष्टि इच्छुक हवन करें' मै० सं० २।४।८ 'कारीरी के समान वपन करू' इत्यादि प्रमाण से।

यह कहना कि 'तुम्हारे अभिमत मन्त्र रूप वेदों में विधियों का विधाना भाव है' इस विषय में यह उत्तर पर्याप्त होगा कि आपके मत में मन्त्र अभि-दायक तो हैं ही, परन्तु विधियों के विधानाभाव में अभिधायकता मे अवैदिकत्व

केचन यजुषश्चतुर्विंशाध्यायं ब्राह्मणभागं मन्यन्ते। यजुर्भाष्यकृतोव्व-टेनाऽपि भूमिकायां प्रदर्शिताश्चैते मन्त्रभेदाः। तत्र 'विधिरपि' इति न्यायविदः पठन्ति :—"विध्यर्थवाद, याच्ञाशीः, स्तुति, प्रैष, प्रवाह्लि-काः" इत्यादिभेदाः।

विधिर्यथा :—अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते' (यजु. २४।१) शबरभाष्ये-ऽपि आशीरादयस्त्रयोदश मन्त्रभेदाः प्रदर्शिताः। तथा च मीमांसा-यामपि "अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्' (मी. २।१।३१)' इह यद्यपि विधिमन्त्रयोरेकस्यैव वेद-शब्दस्य वाच्यता तथाऽपि द्वयोरपि अर्थभेदः। यतो हि शब्द-सामर्थ्येन विधेरर्थः विधा-नम्। मन्त्रस्यार्थः अभिधानम्। वेद-वाक्यानि चापि कर्मणां विधानं कुर्वते, यथा :—'समिधाग्निं दुवस्यत।' घृतं तीव्रं जुहोतन।' (यजु.३।२)

आधुनिकैष्टीकाकारैरेष महाननर्थकरो दुष्प्रचारः कृतः यन्न मन्त्रा विधायकाः, केवलमभिधायिका एव। वेदस्यैव भागो ब्राह्मणं तच्च वि-

---

मानना पड़ेगा। जैसा कि 'तच्चोदकेषु मंत्राख्या.' (मीमांसा २।१।३२) में 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" यह मन्त्र कर्म-विधायक है, पर वह ब्राह्मण का नहीं।

शास्त्र के वास्तविक तत्व को न समझकर कई आधुनिक लोग यजुर्वेद के २४ वें अध्याय को ब्राह्मण-भाग मानते हैं। यजुर्वेद का भाष्य करने वाले उव्वट ने भी भूमिका में मन्त्रों के निम्न भेद प्रदर्शित किये हैं, वहां पर विधि भी एक भेद है।

"विध्यर्थवाद याच्ञाशीः स्तुति प्रैष प्रवाह्लिकाः।" इत्यादि। विधि जैसे—अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते (यजु० २४।१) शबर-भाष्य में भी आशी आदि १३ मन्त्र-भेद प्रदर्शित किये हैं और मीमांसा २।१।३१ में यद्यपि विधि और मन्त्र एक ही शब्द के वाच्य हैं, तथापि दोनों का एक अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द सामर्थ्य में विधि का अर्थ 'विधान' और मन्त्र का अर्थ 'अभिधान' पाया जाता है। वेद वाक्य भी कर्मों का विधान करते हैं।

'समिधा से अग्नि को प्रचण्ड करो, तीव्र घृत की आहुति दो' (यजु०३।२)

आधुनिक टीकाकारों ने यह महान् अनर्थ कर दुष्प्रचार किया है कि मन्त्र विधायक नहीं है। केवल अभिधायक ही है और वेद का ही भाग ब्राह्मण है,

धायकम् अतो वेदाः ब्राह्मणान्यपि इति। परमेतन्मतमशास्त्रीयं जैमिनि-तात्पर्य-विरोधात्। तथा च :—

यद्यपि विधिमन्त्रौ वेदशब्दवाच्यौ तथापि 'विधि' शब्देन मंत्रातिरिक्तब्राह्मण-वाक्यग्रहणं न भवेदित्युक्तविधिवाक्यानामपि मन्त्रत्व-कथनं क्रियते। "तच्चोदकेषु मंत्राख्या" (मी० २।१।३२) इत्यनेन यानि वेदवाक्यानि अग्निहोत्रादि-कर्म-विधायिकानि, सिद्धार्थाभिधायिकानि च, तेषामुभयार्थकानामेव मंत्रसंज्ञैव, ननु मन्त्राः अभिधायका एव केवलं, न विधायकाः, ब्राह्मणानामेव विधायकत्वादिति चेन्न, जैमिनि-सूत्रकारस्य तदाशयस्य सर्वथा विपरीतत्वात्।

यदि सूत्रकृतो ब्राह्मणानामेव विधायकत्वाभीष्टिरभविष्यत्तदा "तच्चोदकेषु मन्त्राख्याः" इति स्थाने तदभिधायकेषु मन्त्राख्याः इत्यरचयिष्यत् : अतो विधिशब्देन नाऽत्र ब्राह्मण-ग्रहणमभीष्टम्, किंतु ब्राह्मण-परिव्राजक-न्यायेन संहिताया एव विधिमन्त्रेति भेद-द्वयमभीप्सितम्।

जो विधायक है। इसलिए वेद ब्राह्मण भी है। लेकिन यह मत शास्त्र से सम्मत नहीं है, इसमें जैमिनि का भी विरोध है।

यद्यपि विधि और मन्त्र दोनों ही-वेद-शब्द वाच्य हैं, तथापि विधि शब्द से मन्त्रातिरिक्त ब्राह्मण वाक्यों का भी ग्रहण न होवे, अतः उक्त विधि वाक्यों का भी मन्त्रत्व कथन किया जा रहा है। तच्चोदकेषु मन्त्राख्या.' मी० इससे जो वेदवाक्य अग्नि होत्रादि कर्म विधायक हैं और सिद्धार्थाभिधायक भी हैं उन उभयार्थकों की मन्त्र संज्ञा है।

अतः यह भी नहीं कहना चाहिए कि मन्त्र केवल अभिधायक ही है और विधायक नहीं है तथा ब्राह्मणों का ही विधायकत्व है, ऐसा कथन सूत्रकार जैमिनि के आशय के विपरीत है।

यदि सूत्रकार को ब्राह्मणों का ही विधायकत्व अभीष्ट होता, तो 'तच्चोदकेषु' के स्थान पर 'तदभिधायकेषु' यह पाठ करना अधिक ठीक था, जो नहीं किया। अतः विधि शब्द से यहां ब्राह्मण ग्रहण अभीष्ट नहीं, किन्तु ब्राह्मण परिव्राजक न्याय से संहिता के ही विधि और मन्त्र दो भेद अभीप्सित हैं।

अधुनातनाष्टीकाकृतः स्वपक्षपुष्ट्यै "तच्चोदकेषु" इति पदस्य विवरणं तदभिधायकेषु, इति कुर्वन्तस्तु भ्रान्ताः, यतोहि नहि शब्दशक्त्योरुक्तार्थलाभः। मुख्यार्थे संभवे लक्षणावृत्त्या गौणार्थाश्रयणस्यायुक्तत्वात्। अपरञ्च परःसहस्रवाक्यानां कर्मविधायकानां संहितासु समुपलम्भात्। तदा विधिशब्देन संहिताग्रहणमकृत्वा मुख्यार्थं परित्यज्य लाक्षणिकार्थस्य ग्रहणे नौचित्यम्। आधुनिकटीकाकृतां ब्राह्मणानां वेदाभिधेयत्वे सर्वथाऽयुक्तः प्रयासः। अतो महर्षिरसूत्रयत् "शेषे ब्राह्मणशब्दः" (मी०) इत्यनेकैतरेयादिग्रन्थानां ब्राह्मणसंज्ञा प्रतिपाद्यते। निष्कर्षोऽयं शेषिणां मन्त्राणां शेषाः ऐतरेयादयो व्याख्यान-रूपाः ग्रन्थाः,। अपरंच कात्यायनेन (का० श्रौ० सू० १।८।१७, १८) इति सूत्रयोः ब्राह्मणोच्चारणे भाषिक-स्वर विधानम् अपि तेषामवेदत्वं प्रतिपादयति।

(पृ० ५५७ अनु० २) यदुक्तं "वेदानां नित्यत्व-साधन-प्रसङ्गे प्रामाण्य-साधनमप्रकृत-प्रक्रिया" इति दोषारोपणं तु मिथ्यैव, प्रस्तुतस्य पौर्वापर्याऽनालोचनात्, यतोहि महर्षिणा युक्त्या सर्वप्रमाणैश्च वेदानां नित्यत्वमेव साधितं मुख्यत्वेन, न त्वानुषङ्गिकापतितं प्रामाण्य-प्राधान्येनोपपादितम्।

जिससे अधुनातन टीकाकार अपने पक्ष की पुष्टि के लिए 'तच्चोदकेषु' इस पद का 'तदभिदायकेषु' यह अर्थ करते हुए भ्रान्त हुए हैं, क्योंकि शब्द शक्ति से इस अर्थ की सिद्धि नहीं होती, कारण यह है कि मुख्यार्थ सम्भव होने पर लक्षणा-वृत्ति से गौण अर्थ का आश्रय लेना अयुक्त है। दूसरे, संहिताओं में सहस्रों वाक्य कर्म विधायक मिलते हैं, तब विधि शब्द से संहिता ग्रहण न करके मुख्यार्थ छोड़ लाक्षणिकार्थ ग्रहण करने में कोई औचित्य नहीं। आधुनिक टीकाकारों का ब्राह्मणों को वेद कहना सर्वथा अयुक्त प्रयास है। इसीलिये महर्षि ने 'शेषे ब्राह्मण शब्दः' सूत्र रचकर अनेक ऐतरेयादिग्रन्थों की ब्राह्मण संज्ञा प्रतिपादित की है। निष्कर्ष यह है कि शेषी मन्त्रों के शेष ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। दूसरे वात्स्यायन के सूत्रों में ब्राह्मणों के उच्चारण में भाषिक स्वर का विधान भी ब्राह्मण ग्रन्थों का अवेदत्व सिद्ध कर रहा है।

(पृ० ५२७ अनु० २) (यह कहना कि 'वेदों) के नित्यत्व-साधन प्रसङ्ग में' प्रामाण्य सिद्धि करने लग जाना अप्रकृत प्रक्रिया है' आपका यह दोषारोपण

उपसंहारे चापि "एवंभूतस्य सदा निर्विकारस्वरूपस्यानादेर्नित्यस्य सत्य-सामर्थ्येश्वरस्य सकाशात् वेदानां प्रादुर्भावात् तस्य ज्ञाने सर्वैव वर्तमानत्वात् सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वञ्चैतेषामस्तीति सिद्धम्" इति स्पष्टतया प्रतिपादितम् । नित्यत्वे साध्ये सत्यत्वम् ब्रह्माद्याप्तोक्तत्व-मिति समानार्थ एव हेतुर्न भिन्नार्थकः । विनायक-रचनादृष्टान्तस्तु भवत्सु प्रतिमापूजार्पितमतिषु एव संघटते । तदेवं नेहाप्रकृत-प्रक्रिया-दोषो नचाप्युपक्रमोपसंहार-विरोधः ।

(पृ० ५२८ अनु० १) महर्षिदयानन्देन वेदनित्यत्त्व-विचारे साध्ये प्रासङ्गिकप्रामाण्यपाठोऽप्युद्धृतः । तत्प्रामाण्ये यन्मुनिवर-वात्स्यायन-भाष्यमुद्धृतम् तत्तावदेव यावदत्र तन्मतेन प्रामाण्य-प्रतिपादनाय आवश्यकम् । मीमांसकैर्वेदानां प्रामाण्यं 'नित्यत्त्वात्' मन्यते, गोतमेन चात्र 'आप्त-प्रामाण्यात्' इति मन्यते, अतः "नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्त-प्रामाण्यादिति" अवतरणमेवाविकलं गोतम

सर्वथा निर्मूल हैं, क्योंकि प्रस्तुत का पौर्वापर्यालोचन आपने नहीं किया ।

क्योंकि युक्ति और सब प्रमाणों से वेदों का नित्यत्व ही मुख्यतया साधित है, आनुषङ्गिकापतित प्रामाण्य का प्रतिपादन प्रधानतया नहीं किया गया है ।

उपसंहार में भी देखिये—'एवंभूत सदा निर्विकार स्वरूप अनादि, नित्य, सत्यसामर्थ्यवान् ईश्वर के सकाश से वेदों का प्रादुर्भाव होने से और ईश्वर के ज्ञान में सर्वदा वर्तमान रहने से वेदों का सत्यार्थवत्त्व और नित्यत्व सिद्ध है ।" ऐसा प्रतिपादित करने से नित्यत्व की साध्यता में सत्यत्व या ब्रह्माद्याप्तोक्तत्व हेतु समानार्थक है विपरीतार्थक या भिन्नार्थक नहीं' 'विनायकं प्रकुर्वाणः, का दृष्टान्त तो आप जैसे जड़-पूजार्पितमतियों पर ही घटित है ।

अतः आपका आरोपित अप्रकृत-प्रक्रिया दोष कदापि नहीं तथा उपक्रमोप-संहार विरोध भी नहीं ।

महर्षि दयानन्द ने वेद-नित्यत्व-विचार साध्य में प्रसङ्ग-प्राप्त वेदों का प्रामाण्य सम्बन्धी पाठ भी दिया । उस प्रामाण्य में जो मुनिवर वात्स्यायन का भाष्य उद्धृत किया है, वह उतना ही अंश उद्धृत किया है, जितना कि स्वामी जी की सम्मति में प्रामाण्य-प्रतिपादन के लिये आवश्यक था । मीमांसक लोगों ने 'वेदों के प्रामाण्य में' नित्यत्व हेतु दिया और गोतम ने 'आप्त प्रामाण्यात्' हेतु दिया । अतः "नित्यत्वाद् वेद-वाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्य

मतं प्रस्तोतुं पर्याप्तं मन्यमानो महर्षिः अपेक्षितांशमेवोदधरत् । तात्पर्यमदोतदुद्धरणस्य "मीमांसकैर्नित्यत्वाद् हेतोर्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वं स्वीक्रियते न तस्माद्धेतोर्गोतमेन । अनेनैव हेतुना उक्त-मीमांसकमतस्यायुक्तमित्यनन्तरपठितभाष्येण अयुक्तता प्रति-पादिता । मुनिवात्स्यायनेन तु वेद-प्रामाण्यामाप्त-प्रामाण्यादेवेति सिद्धान्तितम्, अतः श्री दयानन्देन स्वामिनोक्तम् "आप्तैः प्रामाण्ये-नाङ्गीकृतत्वाद् वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम्" इति ।

इह करपात्र-महोदयः स्वकीयं कपटपाटवं स्वामि-दयानन्दे समा-रोपयति यत् स्वामिना वात्स्यायन-पूर्वपक्ष-वाक्यमुत्तर-पक्षत्वेनोपन्य-स्तम्, तच्च "अयुक्तमित्यस्य स्थाने उक्तम् इति विपरीतमुपन्यस्तम्" इति ।

महोदय ! वात्स्यायन-मते 'तत् प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्यस्य पूर्वपक्षवाक्यत्वासम्भवः, तस्य' सिद्धान्त-पक्षत्वात् । अतो मिथ्यारोप-

---

माप्त प्रामाण्यात्' यह अवतरण ही गोतम के अविकल मत को प्रस्तुत करने के लिये पर्याप्त है, ऐसा मानकर महर्षि दयानन्द ने अपेक्षितांश उद्धृत किया है । इस उद्धरण का तात्पर्य है कि जिस हेतु को प्रामाण्य में मीमांसक मानते है, गोतम उस हेतु से प्रामाण्य प्रस्तुत नहीं करते । इसी से तो उक्त मीमांसक मत की अयुक्तता 'अयुक्तम्' के अनन्तर पाठ से प्रतिपादित की गई है । मुनि वात्स्यायन ने वेद-प्रामाण्य का आप्त-प्रामाण्य हेतु देकर ही सिद्धान्तित किया है । इसीलिये स्वामी जी ने 'आप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद् वेदाः प्रमाणम् इति बोध्यम्' ऐसा कहा ।

यहाँ पर करपात्र महोदय ने अपना कपट-पाटव स्वामी दयानन्द पर आरोपित किया है कि स्वामी जी ने वात्स्यापन का पूर्वपक्ष ही सिद्धान्तपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर दिया कि 'अयुक्त के स्थान में' 'उक्त' यह पाठ बदल दिया । महोदय ! वात्स्यापन के मत में 'उनका' प्रामाण्य आप्त प्रामाण्य के कारण है, यह कभी पूर्वपक्ष हो ही नहीं सकता, प्रत्युत यह सिद्धान्त पक्ष है । अतः यह आरोप मिथ्या है । सच है आप दूसरे के नेत्र का तिल देखते हैं; पर अपनी आंख का ताड़ नहीं, जो कि आप अपने अनुवाद के साथ-२ वाक्य-समूह ही निगल लिये । एक 'अयुक्त' शब्द के युक्ति-युक्त अनुद्धरण पर धरती सिर पर उठा रक्खी है । पर हमारी शब्द नित्यता बड़ी बलिष्ठ है, जो

एव एषः। "परनेत्रे तिलं पश्यन् स्वोयं तालमुपेक्षते इति सूक्तिम् अनुसृत्य भाषान्तरकारेण सह भवता तु वाक्य-कदम्बकमेव कवलीकृतम्। एकस्य 'अयुक्तम्' इति शब्दस्य युक्ति-युक्तोद्धरणे धरणी एव शिरसोद्धृता। परम् अहो नो बलीयसी शब्द-नित्यता या त्वद्दशनावलिचर्विता गलबिलाधः-संयोगम् आपादिताऽपि वात्स्यायन-भाष्ये पुनरुज्जीवितैव यथा—

"नानित्यत्वे वाचकत्वम् इति चेन्न, लौकिकेष्वदर्शनात्। तेऽपि नित्या इति चेन्न" इति। तत् किन्नेदं कपटपाटवमज्ञानविजृम्भितम् वा ?

"नानित्यत्वे वाचकत्वमिति खण्डने, अनाप्तोपदेशादर्थविसम्वादो नोपपन्नः," इतिहेतोरुपन्यासादनर्थ-प्रसवः, महदाश्चर्यञ्च, यदेतावान् पाठ-विलोपो भवताप्युपेक्षितो दर्शनाचार्येणापि अदर्शनमिव कल्पितम् लोक-लोचनेषु अनर्थ-धूलि-राशिमुपक्षिप्य। परम्

आपकी दशनावली से चर्वित होकर भी गलबिल के नीचे निगली हुई भी जीवित ही बच गई। आप यहाँ जिस अंश को निगल कर चबा गये है, वह है "नानित्यत्वे वाचकत्वमिति चेन्न लौकिकेष्वदर्शनात्। तेऽपि नित्याइति चेन्न इति" क्या यह आपका प्रवञ्चना-चातुर्य अथवा अज्ञान विजृम्भण नहीं है ? दूसरे 'अनित्यत्व में वाचकत्व नहीं होगा' इसके खण्डन में अनाप्तोपदेश से अर्थ का विसंवाद उपपन्न नहीं है, यह हेतु उपस्थापित करके महान् अनर्थ कर रहे हो। महान् आश्चर्य है कि इतना बड़ा पाठ-विलोप आप द्वारा उपेक्षित होकर भी दर्शनाचार्य के द्वारा भी दर्शन का अङ्ग न मानकर लोगों के लोचनों में धूल झोंककर अदृष्ट ही बना रहा। शास्त्र ने ठीक ही कहा है कि जिसे अन्धे न देख सकें, वह आंख वालों को भी दिखाई न दे यह युक्ति नहीं बन सकती, अतः स्वामी दयानन्द के अनुयायी सूक्ष्म विवेचक हम लोग तो देखेंगे ही।

'वेदों का नित्यत्व व्यवहार-सम्प्रदाय-प्रयोगाभ्यास के अविच्छेद से है, न कि शब्द की नित्यता से' यह भी आपकी उक्ति समीचीन नहीं है।······ न्याय के मत में यहाँ उदभूत शब्द के ही विषय में यह कथन किया गया है, क्योंकि वही आदिमान्, ऐन्द्रियक तथा कृतक है, लेकिन वेद तो ज्ञान रूप होने से अनादि, अनैन्द्रियक और अकृतक हैं। अतः प्रामाण्य का प्रतिपादन यहाँ पर

"नान्धाऽदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः" इत्यनुरुध्य स्वाम्यनुयायिनो वयम् सूक्ष्मदृशस्तु द्रक्ष्याम एव।

"नित्यत्वव्यवहारस्तु वेदानाम् सम्प्रदाय-प्रयोगाभ्यासाऽविच्छेदात् न तु शब्दस्य नित्यत्वात्" इत्युक्तिस्तु न समीचीना भवतः। शब्दो हि न्यायमते उद्भूतः आदिमान् ऐन्द्रियकः कृतकश्च, परं न तथा वेदाः, ज्ञानरूपत्वादनादित्वादनैन्द्रियकत्वादकृतकत्वाच्च। अतः प्रामाण्यन्त्वेषामाप्तप्रामाण्यादेव न तु नित्यत्वादिति भावः। भवदुक्तोपचारिकता तु स्वकल्पितैव।

(पृ० ५२९ अनु० १) "स एष पूर्वेषामपि गुरुः······तदुक्तत्वाद् वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्ये" तदपि न युक्तम्, वेद-नित्यत्व-प्रक्रमे ईश्वरनित्यत्वसाधनस्य प्रकरणविरुद्धत्वात्।" इति।

(समा०)भवतः कल्पितोऽयम् दोषाऽत्र नैवोपपद्यते, वेदानां नित्यत्व-साधने एव पातञ्जलसूत्रोद्धरणस्य सहायकतया उपयुज्यमानत्वात्। प्रसङ्गतश्च व्याख्यानेन वेदद्वारा सत्यार्थोपदेशकत्वादीश्वरस्य (गृणातीति तस्यभावः) गुरुता, कालेनानवच्छेदत्वाच्च नित्यता सिद्धैव, एवम् अनुसूत्रम् निरतिशयनित्यज्ञानवत्त्वेन च सर्वज्ञेनोक्तानां वेदानां सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चोद्दिष्टं साधितम्-अतो नात्र प्रकरण-विरुद्धता।

आप्त-प्रामाण्य से नैयायिकों ने माना है, न कि नित्य-हेतु से। अतः आपका कथन स्वमनीषिका-मात्र है।

आक्षेप—"जो यह पूर्वजों का भी गुरु ईश्वर है, उससे उक्त होने के कारण वेदों का भी सत्यार्थवत्त्व और नित्यत्व समझना चाहिये" यह कथन भी ठीक नही, क्योंकि वेद के नित्यत्व प्रक्रम में ईश्वर के नित्यत्व साधन करने लग जाना 'प्रकरण-विरुद्ध' दोष है।

समा०—आपका कल्पित यह दोष यहां घटित नहीं होता, क्योंकि वेदों के नित्यत्व साधन में पातञ्जल सूत्रोद्धरण हमको सहायकतया उपयुक्त है और प्रसङ्ग-वश व्याख्यान से वेद द्वारा ईश्वर ने सत्यार्थ का उपदेश किया है, गृणाति उपदिशतीति गुरुः, शब्द से यह अर्थ ध्वनित होता है, कालानवच्छेद से नित्यता भी सिद्ध है। इस प्रकार पास के सूत्र में परमेश्वर की निरतिशय ज्ञानवता और सर्वज्ञता कथित है। उसके द्वारा कथित वेदों का सत्यार्थवत्त्व और नित्यत्व समुदिष्ट है, जिसकी सिद्धि की है, अतः यहाँ कोई प्रकरण-विरुद्धता नहीं है।

यदुक्तम् "नात्र सूत्रे वेद-नित्यत्व-प्रतिपादनमुक्तम्" इति, तत्तु अज्ञानमेव, यतोऽग्रे "सम्प्रतिपत्ति-नित्यतया नित्यः शब्दार्थ-सम्बन्धः इत्यागमिनः प्रतिजानते" (यो० व्या० भा० १।२७) इत्युक्तमस्ति।

'तस्मात् सम्प्रतिपत्तेः सदृशव्यवहार-परम्परायाः नित्यतया नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इत्यागमिकाः प्रतिजानते, न-पुनरागम-निरपेक्षाः, सर्गान्तरेष्वपि तादृश एव संकेतः इति प्रतिपत्तुमीशते, इति भोजवृत्तिः अपि नित्यत्वं समर्थयते। अपरंच नित्य-सर्वज्ञेश्वर-ज्ञानस्य तद्-गुणवत्त्वम् अपरिहार्यमेवेति, तच्च असूयोपहत-चेतसामगोचरमेव। व्यासेनापि महर्षिणा 'शास्त्रोत्कर्षयोः ईश्वरसत्त्वे वर्तमानयोः अनादिः सम्बन्धः' (१।२४) इति प्रतिपादितम्। अतोऽनादि-सम्बन्ध-वेदस्य नित्यताऽसन्दिग्धं सिद्धैव।

किञ्चैतस्मिन् योगसूत्रे 'स' 'एष' इति पदद्वयमुत्थानिकारूपेण भवता स्वीकृतम्, न तु सूत्राङ्गत्वेन। भवेन्नाम तथा, परमभिप्रायस्तु न भिद्यते। अपि च केषुचित् पुस्तकेषु 'पूर्वेषाम्' इति, अन्येषु 'स पूर्वेषामिति', अपरेषु च 'स एष पूर्वेषामिति' पाठोऽपि दृश्यते।

यह जो कहा कि 'इस सूत्र में वेद-नित्यत्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है, सो यह तो आपका नितान्त अज्ञान है क्योंकि यहाँ सम्प्रतिपत्तिनित्यतयानित्यः शब्दार्थ सम्बन्धः' (व्या. भा० १।२६) ऐसा कहा है।

इस पर दी हुई भोजवृत्ति के द्वारा नित्यता का समर्थन किया गया है। दूसरे यह सर्वथा तर्कसंगत है कि नित्य सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञान (वेद) का भी नित्यत्व और सर्वज्ञत्व गुण अपरिहार्य रहेगा। यह असूया के कारण विनष्ट बुद्धि आपकी सूझ और समझ के बाहर की बात है। व्यास महर्षि ने भी (१।२४) सूत्र में इसी का प्रतिपादन किया है— अतः अनादि सम्बन्ध वेद की नित्यता असन्दिग्धरूप से सिद्ध है।

आपने 'स' 'एष' ये पदद्वय इस सूत्र की उत्थानिका रूप में स्वीकृत किये हैं सूत्र के अङ्गरूप में नहीं। अच्छा यह भी सही, पर अभिप्राय में इससे क्या भिन्नता आई। बस 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे' वाली स्थिति आपकी है। दूसरे कुछ पुस्तकों में 'पूर्वेषाम्' तथा कुछ में 'स पूर्वेषाम्' यह पाठ भी है तथा कुछ में 'स एषपूर्वेषाम्' यह पाठ भी देखा जाता है।

यथा लवपुरतः १९६१ वैक्रमाब्दे प्रकाशित-पुस्तकेऽपि 'स एष' इति विशिष्टः पाठः। यथा च भाष्यकारेण वेद-चर्चा कृता सूत्रेऽत्रपाठाऽभावेऽपि, तथैव स्वामीदयानन्देनाऽपि प्रातिभ-चक्षुषा दृष्टम्।

अत्र मर्षणीयमेतद् यन्नाऽविकलमुद्धृतं भूमिकातः, परन्तु पाठ-परिवर्तने न क्षन्तव्योभवान्, अनर्थ-साधनघृणिताभिलाषित्वात्। यद् भवानाह,स्वामिनाप्यग्न्यादिभ्यो ब्रह्मणोऽध्ययने पूर्वताऽङ्गीकृता' तत् 'सर्वथाऽलीकमेतत्। तत्खण्डनं तु अत्रैव पाठेन भवति यथा हि "अग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनाम् —" इति। किन्तु नैषा तेऽविच्छिन्ना प्रच्छन्नच्छद्मता ?

(पृ०५२६ अनु०२) यदुक्तम् "निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्" इति, नित्यशब्दो न सूत्रे पठितः पुनर्वेदानाम् नित्यत्वम् कथम् अनेन साध्यते ?" इति चेन्न, पुरुष (परमात्म) सहचारिप्रधान सामर्थ्याद् वेदानाम् प्रामाण्ये सिद्धे प्रत्येकसृष्टौ पूर्व-कल्प-वत् तेषामृ-

---

यथा लाहौर से १९६१ विक्रमाब्द में प्रकाशित पुस्तकों में 'स एष' इति विशिष्ट पाठ है। जैसे यहाँ भाष्यकार महर्षि व्यास ने सूत्र में वेद शब्द के पाठ के अभाव में भी आनुषङ्गिक वेद-चर्चा की, उसी प्रकार महर्षि दयानन्दने अपनी आर्ष प्रतिभा से उक्त विषय का दर्शन कर प्रकाशित किया है।

यहाँ पर हम आपको इसके लिये तो क्षमा कर सकते हैं कि आपने भूमिका से अविकल पाठ उद्धृत नहीं किया, परन्तु पाठ-परिवर्तन कर प्रस्तुत करने की आपकी कुचेष्टा क्षन्तव्य नहीं, क्योंकि इससे आप अनर्थ सिद्धि के लिये घृणित इरादा रख रहे हैं। आपका यह कथन कि स्वामी दयानन्द ने भी अग्नि आदि ऋषियों से पूर्व ब्रह्मा के अध्ययन की बात कही हैं, यह सर्वथा निराधार और मिथ्या है, उसका खण्डन तो यहीं पर अग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनाम् —इस पाठ से ही हो जाता है। क्या यह आपका निरन्तर छिपा हुआ छद्म नहीं है ?

यह जो कहा 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्' इस सूत्र में नित्य शब्द का पाठ नहीं है, फिर इससे वेदों का नित्यत्व क्यों सिद्ध किया जा रहा है ? इसका समाधान तो यह है कि पुरुष सहचारी प्रधान सामर्थ्य से वेदों का प्रामाण्य सिद्ध होने पर प्रत्येक सृष्टि में पूर्वकल्प के समान उन ऋषियों के हृदयों में वेद प्रकाशित होते रहे। इस प्रकार से वेदों की नित्यता अक्षत

षीणाम् हृदयेषु प्रकाशितत्वात् नित्यत्वाक्षतेः । अपरञ्च महोदय ! असौत्रत्वात्' इत्यस्य को अभिप्रायो भवतः ? सूत्रेऽपठितत्वात्, उताहो-सूत्राऽसङ्गतत्वात्, नाद्यः, अपठित-शब्दानामपि सामर्थ्यात् अर्थोहनात्, अन्यथा सर्वशास्त्रव्याख्याऽनौचित्य-प्रसङ्गापत्तिः स्याद्, द्वितीयश्चेत्, नाक्षेप-सङ्गतिस्तदनुकूल-तद्व्यज्यमानार्थव्याख्यानात् ।

यदुक्तम् 'नायं विचारोऽपि (स्वतः-प्रामाण्यनित्यत्वात्मकः) निकष-कषणे सिद्धः इत्यसङ्गतमिति' । वस्तुतस्तु न ते विचार-शैली-निकषः प्रामाणिकः महर्षि-स्वर्ण-विचारस्य त्वन्मति-काष्ठ-निकषणाऽयोग्यत्वात् । नित्यशब्दाभावेऽपि गुणगुणिनोर्नित्य-सम्बन्धात् तदर्थाक्षेपस्यौचित्य-मेव, वेदज्ञानस्य नित्येश्वरस्य गुणत्वात् ।

न च ईश्वरोत्पादितत्वात् जगत्-कार्यस्यापि नित्यत्वापत्तिः, जगतः उपादानरूप-प्रकृतेः परिणामित्वात् जगतो नश्वरत्वाच्च, ईश्वरस्य च निमित्त-कारणत्वाददोषः । न घट-नाशे कुम्भकारस्य-घट-रचना ज्ञानस्य च विनाशः तथा जगन्नाशे नैवेश्वरवेदयोर्नाशः ।

(पृ० ५३० अनु०२) ननु स्वामिदयानन्देन शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रे श्री शङ्कराचार्यस्य भाष्यमुद्धृत्य "सर्वज्ञेश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमर्हति"इत्युक्तम् । तत् त्वत्-कथनमसङ्ग-तम्—"यतोहि शास्त्रस्य ब्रह्म-कारणत्वेन अर्थात् वेदकारणत्वेन परमे-श्वर-सार्वज्ञ्यसिद्धिरेवाऽभीष्टा, वेदनित्यत्वाऽप्रतिपादनादिति चेन्न, "पुरुष-निश्वासवद् यस्मात् महतो भूताद् योनेः सम्भवः 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदः" (बृह० २।४।१०) इति शांकर-भाष्यमूलस्य शृंगेरीनिर्वाणपीठाधीश्वर-जगद्गुरु-शङ्कराचार्याभ्याम् सांख्ययोग-न्यायवेदान्त-दर्शनाचार्य- विविधस्तुति-भूषित-स्वामिभागव-तानन्दमहामण्डलेश्वर-पद्मविभूषण । श्री गोपीनाथ कविराज श्री सुब्रह्मण्यशास्त्रिभिश्च प्रशंसितां निखिलभाष्यभावावबोधिनीं टीकां कुर्वता, श्री स्वामि-सत्यानन्दसरस्वतीमहोदयेनाऽपि 'वेदरचना ईश्वरस्य स्वाभाविकी क्रिया' स्वीकृता । सा च नित्यैव भवतीति बोध्यम्, किञ्च "सूर्याचन्द्रमसौ-धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति सर्वेश्वरेण पूर्वकल्पा-नुसारं वेदस्मरणमेव वेदरचनेति, कथितत्वात् तदेतत् वेद-रचनं नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमेवार्हतीति सत्यम् ।

अभिव्यक्त है । महोदय ! यहाँ आपने 'असौत्रत्वात्' यह दोष उद्भावित किया है" इससे क्या अभिप्रेत है ? सूत्र में अपठित होने से या कि सूत्र से असङ्गत होने के कारण ? प्रथम तो घटित नहीं हो सकता; क्योंकि सूत्र व्याख्या में अपठित शब्दार्थों का भी ऊहन किया जाता है, अन्यथा सर्वशास्त्रों का व्याख्यान ही अनुचित ठहरने लगेगा । दूसरा आक्षेप पक्ष भी असङ्गत है, क्योंकि सूत्रानु-कूल उस सूत्र से व्यज्यमान अर्थों का व्याख्यान किया ही जाता है ।

यह जो आपने कहा कि 'यह विचार कि स्वतःप्रामाण्य और नित्यत्व स्वीकार करना ।" कसौटी पर कसने पर खरा नहीं उतरता, अतः असङ्गत है ।' श्रीमन् ! आपके विचारने की शैली तो प्रामाणिक निकष हो नहीं सकती, क्योंकि स्वामी जी का स्वर्ण सदृश यह विचार आपकी मतिकाष्ठ कसौटी पर कैसे परखा जा सकता है ? उक्त सूत्र में नित्य शब्द के अभाव में भी गुण और गुणी का सम्बन्ध नित्य होने के कारण इस अर्थ का आक्षिप्ततया ऊहन कर लेना उचित ही है। वेद ज्ञान तो ईश्वर का गुण है ।

ईश्वर द्वारा उत्पादित जगत् कार्य को भी इस प्रकार नित्य मानना चाहिये—इस शङ्का का समाधान यह है कि जगत् का उपादान कारण तो प्रकृति है जो परिणामिनी है । अतः जगत् नश्वर है, ईश्वर इस जगत् का निमित्त-कारण है । अतः कोई दोष नहीं बनता जैसे घट के नाश होने पर कुम्भकार और घट-रचना ज्ञान का विनाश नहीं होता, उसी प्रकार जगत् के नष्ट होने पर ईश्वर और उसके ज्ञान वेद का नाश नहीं होता ।

स्वामी दयानन्द ने 'शास्त्र योनित्वात्' इस सूत्र पर शङ्कराचार्य के भाष्य का उद्धरण देकर 'सर्वज्ञ ईश्वर का शास्त्र भी। बुद्धि में सङ्गत नहीं बैठ रही होगा' यहाँ आप कहते है कि "शास्त्र का कारण ब्रह्म होने से सर्वज्ञता की सिद्धि अभीष्ट है न कि वेद का नित्यत्व, क्योंकि नित्यत्व का प्रतिपादन यहाँ नहीं किया गया है" यह आपका कथन ही असङ्गत है । क्योंकि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदः (बृह० २।४।१०) अर्थात् पुरुष के निःश्वासवद्, ब्रह्म से वेद उत्पन्न हैं । इस शाङ्कर भाष्य के मूल की शृङ्गेरी निर्वाण पीठाधीश्वर और जगद्गुरु शङ्कराचार्यों द्वारा तथा सांख्य योग न्याय वेदान्त दर्शनाचार्य विविध विरुद भूषित महामण्डेलश्वर स्वामी भागवतानन्द, पद्म विभूषण श्री गोपीनाथ कविराज, और श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री से प्रशंसित सम्पूर्ण भाष्य

ननु प्रकृत्युपादानकारणादुत्पन्नकार्यस्यैवानित्यत्वनियमः इति चेत्तदपि-न, यतोहि एतत्तु असकृद् बोधितम् यद्वेदानामुत्पत्तिरिति शब्देन प्रकाशनमित्येव अर्थो गृह्यते । अभिहतताल्वादिसहकृतोच्चारित-शब्दस्तु विनश्यत्येवोद्भूतत्वात् । प्रकाशनं च ऋषीणाम् हृदयेष्वभूत्, तदन्तरम् उच्चारणादिकं समभवत् ।

ननु वेदकर्ता ईश्वरः, ईश्वरस्य च सत्तायाम् वेदः प्रमाणम् भवति, इत्यतोऽन्योऽन्याश्रयदोषः स्यादिति चेन्न, ईश्वरसत्तायास्तु जगद्रचनानुमानेन योगिमानस-प्रत्यक्षत्वाच्चसिद्धेः तस्याः केवल-वेदाश्रयाभावात् । यथा पितृत्वं पुत्राधीनं, पुत्रत्वं च पित्रधीनं परं पितृत्वात् पितुरस्तित्वं तु पृथगेव । ये च ब्रह्मातिरिक्तं जगतः कारणमन्यत् स्वीकुर्वते, प्रकृतेः स्वभावं च जगत्कारणं मन्वते तेषां शङ्कानिवृत्यै निमित्तकारणं सर्वज्ञं ब्रह्मेति सूत्रकृतस्तात्पर्यम् ।

भाव को बताने वाली टीका को करते हुये' श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती महोदय ने भी वेद-रचना स्वाभविकी-क्रिया मानी है, जो कि नित्य ही होती है। "सूर्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वम कल्पयत्" के अनुसार सर्वेश्वर द्वारा पूर्व-कल्प के अनुरूप वेद स्मरण ही वेद रचना है" यह कहा है। इस प्रकार यह नित्य और सर्वार्थज्ञान युक्त ही हो सकती है' यह सत्य है।

जो वस्तु प्रकृति के उपादान कारण से उत्पन्न है—वह कार्य है' अतः अनित्य होगी। यह नियम है।

यह तो अनेक बार बताया जा चुका है कि वेदों की उत्पत्ति से अभिप्राय के कारण [illegible] अभिघात युक्त तालु आदि से उच्चारित शब्द तो उद्भूत होने में हुआ उसके अनन्तर उच्चारणादि सम्भव हो सके। प्रकाशन ऋषियों के हृदयों

शङ्का—वेद कर्त्ता ईश्वर है और ईश्वर की सत्ता में प्रमाण वेद होता है। इस प्रकार यहाँ अन्योन्याश्रय दोष है।

समा०—यह शङ्का निर्मूल है, क्योंकि वेदातिरिक्त जगद्रचना के द्वारा अनुमान से और योगियों के मानस द्वारा भी ईश्वर का प्रत्यक्ष होने से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित है। उसकी सत्ता केवल वेदाश्रय ही नहीं। जैसे पितृत्व पुत्र के अधीन है और पुत्रत्व पिता के बनने पर हो सकता है पर पितृत्व गुण से पिता की सत्ता पृथक् ही है। जो लोग ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् का कारण

वेदं ईश्वरज्ञानत्वेन न समर्थयते करपात्रमहोदयः इति तु अपाकरम् । (पृ० ५२१ अनु० १) अतएव च नित्यत्वमित्यस्य स्वामिनोऽर्थमुद्धृत्य समानान्तरः स्वकीयोऽर्थ उपन्यस्तो यश्च न कमपि भाष्यकारम् अनुसङ्गच्छते । अस्पृश्य-प्रवेशेन भ्रष्ट-विश्वनाथमन्दिरात् पृथङ्मन्दिरं निर्मापयत् विपरीतमते विषये किमुच्येत ? यच्चोक्तं "पौर्वापर्यानुपूर्वीमूलकत्वेन पौर्वापर्यस्य च नित्येषु विभुषु वर्णेषु च असम्भवात् ऋग्वेदादेर्न नित्यत्वमिति तत् शास्त्रतात्पर्याऽज्ञानादेव । नहि वेदस्य ज्ञानरूपस्य वाक्यकदम्बकस्यापि उपादानकारणं ब्रह्म, न चात्र अस्मदादिवत् पदार्थोपस्थित्यनन्तरम् वेद-वाक्यकदम्बकनिर्मितत्वं, नित्यशब्दार्थसम्बन्धमयज्ञानस्य तद्गुणत्वात् ।

यत्र हि अर्थज्ञानपूर्वकं वाक्य-ज्ञानं वाक्यरचनायां कारणं तत्र हि

अन्य को मानते हैं अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को जगत् कारण मानते हैं, उनकी शङ्का-निवृत्ति के लिये 'निमित्त कारण सर्वज्ञ ब्रह्म है' यह सूत्रकार का अभिप्राय है।

करपात्री जी वेद को ईश्वर का ज्ञान नहीं मानते, यह अत्यन्त अपाकर है।

'अतएव च नित्यत्वम्' इस सूत्र के स्वामी दयानन्द के अर्थ को उद्धृत कर इसके समानान्तर अपना अर्थ भी करपात्री जी ने उपन्यस्त किया है, इनका यह अर्थ किसी भी भाष्यकार के अनुरूप नहीं, डेढ़ ईंट की मस्जिद की भांति इन्होंने अपनी जिद से नया ही विश्वनाथ का मन्दिर बनवा डाला।' क्योंकि इनकी राय में अछूत प्रवेश से पुराना विश्वनाथ मन्दिर तो भ्रष्ट हो चुका, भला ऐसी औंधी खोपड़ी का क्या कहना ? करपात्री जी का यह कथन कि "पौर्वापर्यानुपूर्वी मूलक होने से पौर्वापर्य नित्य और विभु वर्णों में असम्भव है, [illegible] ऋग्वेदादि की नित्यता कदापि सिद्ध नहीं हो सकती यह शास्त्र का तात्पर्य न समझ पाने के का[illegible] वाक्यसमूह का भी ब्रह्म उपादान कारण नहीं है और न अस्मदादि के समान पदार्थ की उपस्थिति [illegible] वाक्य बने हैं क्योंकि नित्यशब्दार्थ सम्बन्धमय ज्ञान तो ईश्वर का गुण है।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि जहाँ अर्थ-ज्ञानपूर्वक वाक्य-ज्ञान वाक्य-रचना में कारण होता है वह पौरुषेय है, पर वेद-ज्ञान सृष्टि के आदि में हुआ, पदार्थ बाद को बने, पदार्थों को देखकर वेद की रचना नहीं हुई,

पौरूषेयत्वं, वेदाश्चाऽपौरूषेयाः ईश्वरस्य युगपदस्यार्थवाक्यज्ञानस्य च उपस्थितत्वात्।

यदप्युक्तम् "उत्पत्तिमतः कस्यापि नित्यत्वानुपपत्तिरतएव वेदानामपिनेति, चेत्, तदपि, व्यापकस्याकाशस्य घटाद्याकाशस्य च भिन्नत्ववत्, अखण्डेश्वरज्ञानस्य मोक्षोपयोगिनो जीवज्ञानस्य परिच्छिन्नत्वे प्रतीतिर्न तु उत्पत्तिभेदः।

एवं वर्णानामुत्पत्तिः तात्वादिनोद्भूतत्वेऽपि ज्ञानस्य तु नित्यत्त्वमक्षतमेव, भवतु नाम तात्वादिध्वनेर्नाशः।

यच्चाह "वेदनित्यत्वं न गम्यतेऽनेन 'शास्त्रयोनित्वादिति" सूत्रेणति, तदेतदप्रतिभानं स्थूलदृशामेव संभवति। यतो हि ब्रह्म वेदकारणमस्ति, वेदेषु च जगत्पदार्थानां नामज्ञानादिकमस्ति, तथाहि

सर्वेषां स तु नामानि, कर्माणि, च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ, निर्ममे स महेश्वरः॥ मनु०॥ अर्थात्

सृष्टेरादौ वेदशब्देभ्य एव सर्वे लोकाः नामानि कर्माणि च जगृहुः

प्रत्युत वेदानुकूल सृष्टि रचना हुई अर्थात् ईश्वर को युगपत् अर्थ और तत्त्व ज्ञान था। अतः पौर्वापर्य (वर्णों का) जीव ज्ञानापेक्षित है परमात्मज्ञानापेक्षित नहीं।

यह कथन कि उत्पत्तिधर्मा किसी की भी नित्यता उत्पन्न नहीं हो सकती, इसलिये वेदों की भी नित्यता नहीं" असङ्गत है, क्योंकि व्यापक आकाश से जैसे घटाद्याकाश भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार अखण्ड ईश्वर ज्ञान का अंश मोक्षोपयोगी जीव के लिये दिया वेदज्ञान परिच्छिन्न सा प्रतीत होता है, वस्तुतः उत्पत्ति भेद यहाँ पर नहीं है।

इसी प्रकार वर्णों की उत्पत्ति तात्वादि के द्वारा उद्भूत होने [illegible] का नित्यत्व तो अक्षत [illegible] नाश हो जाना दूसरी बात है।

यह कथन कि 'शास्त्र योनित्वात्' इस सूत्र से वेदनित्यत्वध्वनित भी नहीं होता, स्थूल-दृष्टि होने के कारण यह ध्वनन आपकी प्रतिभा का विषय नहीं।

ब्रह्म वेद का कारण है और वेदों में जगत् के पदार्थों के नाम और ज्ञानादि हैं। जैसा कि मनु ने कहा है "महेश्वर ने सबके नाम और कर्म पृथक-पृथक

इत्यनेन ज्ञायते वेदाः पूर्वमेव सृष्टेरवर्त्तन्त नित्यत्वात्, अतएव नित्यत्वमवगम्यते एव वेदानां सूक्ष्मदृग्भिः। किञ्च वेद-ज्ञानस्येश्वर-गुणत्वात्, गुण-गुणिनोश्च नित्य-सम्बन्धात् ईश्वरस्य नित्यत्वं, तथा तद्गुणस्यापि नित्यत्वस्यासंदिग्धत्वात्। सूत्रस्य सार्वज्ञ्येन सह ब्रह्मणश्चेतनत्व स्वातन्त्र्यसाधनत्वे पर्यवसायित्वम्। ईशस्यउपादानकारणत्वे तु तस्मिन् अचेतनत्वपारतन्त्र्यापत्तिः जगतः।

भवता ऋषि दयानन्द कृतोऽर्थोऽवमन्यते। स्वामिना तु सूत्ररूपेण हिन्दी रूपान्तरेण यः प्रकाशितोऽर्थः सः शाङ्करप्रतिभा प्रशस्ति-द्योतकः, स एव यथार्थः, न च चतुर्गुणित-भाषाडम्बरेण प्रकाशितस्तव।

यदुक्तं श्रीमता "बुधास्तत्पाण्डित्यं विदाङ्कुर्वन्तु" इति तु सत्यम् "यद्यद्विस्तरार्थमेषां वेदानां विस्तरार्थमेव पुपुषविशेषेण विरच्यमानं शास्त्रं सम्भवति, इति वचनेन तस्य शास्त्रस्य वेदोपबृंहणोपयुज्यमानता स्पष्टैव। परं वेदभक्त-ऋषि-दयानन्दो 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणमिति वेदार्थमेवान्यशास्त्र-प्रयोजनं स्वीकुरुते।

बनाये हैं, इसीलिए सूक्ष्म-दृष्टियों के लिए नित्यत्व भी अभिव्यक्त होता है। तथा वेद ज्ञान ईश्वर का गुण है, तथा गुण और गुणी का सम्बन्ध नित्य होता है। ईश्वर के नित्य होने से उसके गुण नित्यत्व का प्रकाशन भी असन्दिग्ध है। इस सूत्र में सर्वज्ञता के साथ-साथ ब्रह्म का चेतनत्व और स्वातन्त्र्य-साधनत्व भी सिद्ध होता है, ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानने पर जड़ता और परतन्त्रता का दोष ईश्वर में भी आएगा श्री स्वामी जी ने सूत्र रूप में हिन्दी रूपान्तर में जो अर्थ प्रकाशित किया है, उस अर्थ ने शंकर का और भी गौरव बढ़ा दिया।

वह यथार्थ है, न कि चतुर्गुणित भाषान्तर में आपका कहा हुआ अर्थ। शंकर ने 'यद्-यद् विस्तार्थ का' वेदार्थ विस्तार के लिये, यह अर्थ करना वेदनिष्ठ शंकर का यशोवर्धक और वेद प्रतिष्ठावर्धक है। इसीलिए सो भी (वेद-शास्त्र भी) वेदों के आश्रय से बना सके, यह अभिव्यञ्जना लिखी है। इस प्रकार विद्वान् लोग अवश्य ही ऋषि के पाडित्य को समझ लेंगे आप सदृश रागद्वेषग्रस्त पक्षपाती जब तक निर्मल-हृदय और निष्पक्ष नहीं बनेंगे और मिथ्या पाण्डित्याडम्बर समुद्र में डूबे रहेंगे, तब तक वेदभक्त महर्षि की प्रतिभा

स्वामिना लिखितम् "शङ्कराचार्येण वेदानां नित्यत्वमभिगम्यैव अस्य सूत्रस्य अर्थः कृतः" तद् भवान् सर्वथा अशुद्धं मन्यते। किन्तवैषा धारणा यत् शङ्करो तवमतेऽवतारः सन्नपि एतत्सूत्रप्रतिपादनात्पूर्वं वेदानां नित्यत्वं नाभ्युपागमत् ?

एवं तदनभ्युपगमे तव पाण्डित्यं शङ्करस्य नवनवोन्मेषशालिनीम् प्रतिभामज्ञान-वज्रलेपेन लिम्पति । एतत्ते वागुरिकाच्छलमेव यद्ब्रह्मणोऽस्वातन्त्र्यम् आनुपूर्व्याः परिवर्त्तने, ब्रह्मातिरिक्त-सर्वस्यैव ब्रह्मकार्यस्याऽनित्यतामनुक्तामपि च स्वामिनः शिरसि मण्डयसि त्वम् ।

वस्तुतस्तु 'विस्तरार्थमिति न तवाभिप्रेत-शास्त्र-विशेषणमेव कस्य विस्तरार्थं व्याकरणादि-शास्त्रं पुरुष-विशेषात् सम्भवति ? इत्यस्योत्तरे वेद-विस्तरार्थमित्येव समाधानम् उपयुज्यते । यतो हि शास्त्रं हि मुख्यवृत्त्या वेद एवान्यानि शास्त्राणि तु गौणवृत्त्यैवोपचर्यन्ते इति भावः ।

को नहीं समझ सकेंगे । ऋषि ने व्याकरण शास्त्र का अध्ययन वेदों की रक्षा के लिए माना है । अन्य शास्त्रों का प्रयोजन भी वेदार्थ ही स्वीकार किया है ।

स्वामी जी ने लिखा है कि "शङ्कराचार्य ने भी वेदों को नित्य मानकर ही इस सूत्र का व्याख्यान किया है" जिसे आप सर्वथा अशुद्ध मानते हैं, तो आप बताइये कि तुम्हारी यह धारणा है कि शङ्कर आपका अवतार नहीं मानते ? यदि ऐसा है तो आपका पाडित्य शङ्कर की प्रतिभा पर अज्ञान का वज्र लेप चढ़ा रहा है । यह आपका वाक्छल ही है कि—उक्त रीति से ब्रह्मातिरिक्त ब्रह्मकार्य अनित्य है और आनुपूर्वी का परिवर्तन करने में ईश्वर परतन्त्र है" भला इस कथन का यहाँ क्या सन्दर्भ है ?

वस्तुतः 'विस्तारार्थम्' यह शब्द तुम्हारे अभिप्रेत शास्त्र का विशेषण ही नहीं, किसके विस्तरार्थ कोई भी शास्त्र पुरुष विशेष के द्वारा सम्भव होता है ? इसके उत्तर में 'वेद-विस्तारार्थ' यही समाधान उपयुक्त है । शास्त्र तो मुख्यतया वेद है, अन्य व्याकरण न्यायादि शास्त्र गौणरूप में कहाते हैं, इनकी रचना वेद के ही विस्तृत व्याख्यान के लिए होती है । (शङ्का) वेद के स्वतः प्रामाण्य में 'सूर्य के समान' यह उपमा देना बालभाषित है ।

समा०—आप ठीक कहते हैं (बालेभ्यः भाषितम्) अल्पमति वालों को

(पृ० ५३३ अनु० १) यदुक्तं वेदस्य स्वतः प्रामाण्ये सूर्यवदिति उपमानं बालभाषितमिति, तत् सत्यमेतत्, अल्पमतिभ्यो भवादृशेभ्यो बालेभ्यः सरलतया बोधनधिया ऋषिणा विशदीकृत्य भाषितत्वात् । तथैव किं बालभाषणं श्री सत्यानन्द सरस्वती स्वामिभिरपि शांकर-भाष्यव्याख्याने स्वदीपिकायाम् "वेद स्वतः प्रमाण है अर्थात् वेद अपनी प्रमाणता में अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता है, जैसे सूर्य अपनी सिद्धि में अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता ।" इति वददि्भः कृतम् ?

न च सूर्यस्य विजातीय-मनश्चक्षुरादि-प्रकाश-सापेक्षत्वेन (स्वप्रकाशाभावे) दृष्टान्तासङ्गतिरिति वाच्यम्, मनश्चक्षुरादिकाऽसम्बन्धत्वेऽपि सूर्य-प्रकाश-सत्तायाः अक्षतत्वात् ।

सूर्यस्य प्रकाशे मनसश्चक्षुरादेरनपेक्षत्वात् सूर्यवदिति दृष्टान्तस्य समुपपत्तिरेव । तथा हि यास्केन मुनिना "अमतिः, इति पद-निर्वचन-प्रसङ्गे (६।३।३) निगमः प्रदर्शितः---ऊर्ध्वायस्यामतिर्या अदिव्युतत्

समझाने के लिए 'सूर्यवत्' ऋषि ने लिखा । जिससे उनकी समझ में भी वेद का स्वतः प्रामाण्य आ जावे । क्या इसी प्रकार स्वा० सत्यानन्द जी ने भी यही दृष्टान्त देकर शाङ्कर भाष्य की व्याख्या दीपिका में बालभाषण किया है ? 'वेद स्वतः प्रमाण हैं अर्थात् वेद अपनी प्रमाणता में अन्य प्रमाण की अपेक्षा' नहीं रखता है जैसे सूर्य अपनी सिद्धि में अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता है ।

आपके कथनानुसार सूर्य, विजातीय मन चक्षु आदि के लिये प्रकाश की सापेक्षता रखता है—यह कथन आपका बालकपन के प्रलापवत् है, मन चक्षु आदि का सम्पर्क न होने पर भी सूर्य के प्रकाश की सत्ता तो अक्षत ही रहेगी, अतः सूर्यवद् दृष्टान्त की सर्वथा सङ्गति है, क्योंकि सूर्य के प्रकाशित होने के लिये मन, चक्षु आदि की अपेक्षा नहीं है । उसी प्रकार यास्क मुनि ने 'अमति' इस पद के निर्वचन प्रसङ्ग से निगमोद्धरण देते हुये आदित्य का आत्मप्रकाशगत विज्ञान बताया है । जिसे उसी स्थल पर देखना चाहिए । वह प्रकाश भी आदित्य के प्रकाश के समान अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता ।' इति दुर्गाचार्य ।

सर्वामनि" इति (सा० सं० छ० प्रा० ५।२।३।८) एवमत्र 'अमति' शब्देन आत्म-प्रकाशगतमादित्यस्य विज्ञानमुच्यते, स हि प्रकाशः सतत्त्व एव नान्यत् प्रकाशान्तरमपेक्षते इत्युपपत्तिः इति दुर्गाचार्यः।

'सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः। (अथर्व १४।१) द्यौरिति प्रकाशः' तथा च सामश्रमिमहाभागाः ऐतरेयालोचने आहुः (पृ० ११०) "प्राणस्तदादित्येन समिन्धे तस्मादयमुष्णः" एवं सूर्यस्य स्वप्रकाशत्वे स्वतापत्वे च सौर-सूक्तान्यपि आलोचनीयानि।

किञ्च भोः। एतदप्यनुब्रूहि यन्मनसश्चक्षुषश्च कः प्रकाशो भवति ? ऋषिणा तु सम्यगुपपादितम् यत् यथा चक्षुषः प्रकाशाय सृष्टेरारम्भादेव सूर्यप्रकाशस्य आवश्यकता तथैव मनसः प्रकाशाय (स्फुटनाय विकसनाय) वेद-सूर्यस्यापि अपरिहार्यता, यदीह परेशः सूर्यं नारचयिष्यत्, तदा दीपकादि-प्रकाशोऽपि नाभविष्यत्तथैव वेद शिक्षाया अभावे अन्य-सर्वशिक्षाऽसंभवापत्तिः, अभावाद्भावोत्पत्ति-प्रसङ्गश्चाप्युत्पद्येत, अतः सूर्यस्य न स्व-प्रकाशः इति वचनं तु उपहासास्पदमेव। भवदुक्ततर्कं मनुरुध्य तु सृष्टि-रचनायै प्रकृतेः सापेक्षत्वात् ईश्वरस्याऽपि पारतन्त्र्यमापतिष्यति।

इसी प्रकार 'सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिताः द्यौः।"···तथा च सामश्रमि महाभाग ने ऐतरेयालोचन में 'प्राणस्तदादित्येन समिन्धे' यह उद्धृत कर सूर्य को स्वयं प्रकाशित और स्वतापत्व में दृष्टान्त दिया है। तदर्थ वे सौर सूक्त देखिये।

आप कृपया यह बताइये कि आपके कथित मन और चक्षु का प्रकाश क्या क्या है ? आप चक्षु का प्रकाश कथन करते हुए ऋषि दयानन्द के तात्पर्य को तो नहीं समझ सके, ऋषि ने ठीक ही कहा है कि नेत्र के प्रकाश के लिये सृष्टि के आरम्भ से ही सूर्य प्रकाश की आवश्यकता है, उसी प्रकार मन के प्रकाश के लिए वेद रूपी सूर्य के प्रकाश की अपरिहार्यता है यदि भगवान् सूर्य को न बनाता तो कदापि प्रकाश भी नहीं होता, उसी प्रकार वेद-शिक्षा के अभाव में अन्य सब शिक्षाओं का भी अभाव होता। अभाव से भावोत्पत्ति होने लगेगी, अतः "सूर्य का कोई प्रकाश नहीं" आपका यह कथन उपहासास्पद है। आपके उक्त स्थल के तर्क से सृष्टि-रचना के लिये प्रकृति की सापेक्षता होने से तो ईश्वर भी परतन्त्र हो जाएगा।

तथा वेदप्रामाण्येऽध्येत्रध्यापयित्रपेक्षा-कथनं तु भवतोऽनभिज्ञतैव। ननु यदा प्रामाण्यं कश्चिद्ब्रूते कमपि तदाऽपि 'कश्चिद्' 'कम्' इत्यनयोरपेक्षैव त्वत्कथनेन 'पुनः कथं स्वतःप्रामाण्यमिति चेन्न, उक्तस्य अपेक्षा-कथनस्य हेत्वाभासत्वात्।

प्रश्न :—वेदानां स्वतः-प्रामाण्यं तदा किमर्थं नित्यत्व-साधन-प्रयासः ?

समाधानम्—मैवं वादीः, येषां हि स्वतःप्रामाण्यं तेषामपि नित्यत्व-साधनाय प्रयासस्तु भवादृशवैतण्डिकमतिनिरासाय, स्वतः प्रामाण्ये मतेऽपि सूर्यादेः अनित्यत्वशङ्कानिवारणाय च क्रियते। यदुक्तं "किमिति बौद्धजैनादिभिरपि तत्प्रामाण्यम् नाङ्गीक्रियते" इति शङ्कनम् तु व्यर्थमेव, यतोहि नानिवार्यमेतत् यत् "सुलभ-प्रामाण्ये नित्यत्वे च सिद्धे जैनाः बौद्धा वापि अवश्यं मन्येरन्" नहि चेतन प्रेरणामन्तरा कृपाणश्छिनत्ति। अपि वा चेतनमपि वृकं कश्चिद्दयार्द्र-हृदयं विधातुं न क्षमते। यथा च न पौराणमत-वज्रलेपायितं भवन्त-

---

उसी प्रकार वेद प्रामाण्य में अध्यापक और अध्येता की सापेक्षता का कहना तो आपकी अनभिज्ञता ही है। यदि कोई कहे कि 'कोई' 'किसी के प्रति' कहता है। यहाँ पर दोनों की परस्पर सापेक्षता है आपके कथनानुसार, अतः दोनों की सत्ता की प्रामाणिकता करने के लिये अन्योन्याश्रयता है, उनकी स्थिति का प्रामाण्य नहीं किया जा सकता, यह कथन भी हेत्वाभास है। उसी प्रकार वेदों के पठन पाठन के लिए तो छात्र और गुरु की आवश्यकता है, परन्तु गुरु या छात्र की उपस्थिति से वेदों की प्रमाणता है ऐसा कहना तो हेतु नहीं हेत्वाभास ही होगा।

प्रश्न—वेदों का जब स्वतः प्रामाण्य है ही, तो इनकी नित्यत्वसिद्धि के लिये विशेष प्रयास करना व्यर्थ है अर्थात् स्वतः प्रमाण तो नित्य ही होगा।

समा०—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जिनका स्वतः प्रामाण्य है, उनके भी नित्यत्व साधन का प्रयास आप सदृश वितण्डावादियों की बुद्धि को समझाने के लिये करना ही होगा और वेदों को स्वतः प्रमाण मान लेने पर भी सूर्यादि की अनित्यता के समान वेदों की अनित्यता की शङ्का भी निवृत्त हो सके। अतः विशदीकृत व्याख्या की गई।

मपि वैदिक-सत्य-सिद्धान्ताः स्वयं सत्यपथमानेतुं प्रभवन्ति, मादृश-चेतन-प्रेरणां विना, का कथा पुन-र्बौद्धादीनाम् ।

तदेतत् "रागाद्याक्षिप्तमना विविध-विषयतृष्णापरिप्लुतो न शक्नोति सम्यग्भावयितुम् इति (पृ० ७२) भवताऽपि समर्थितम्, अत्र हि भवता वितण्डैव प्रस्तुता प्रतिपक्षस्थापना-हीनत्वात् । "वेदानां स्वतःप्रामाण्ये संशयादीनामविषयत्वमेव स्वप्रकाशता" इति कल्पनम् तु निरर्थक-प्रलपनमेव ।

अज्ञानिनामेव वेदाः संशय-विपर्ययादिविषयाः न तु बुधाम, सर्वार्थविद्योति-सर्वज्ञ-कल्पत्वात् ।

अहो ! तव पाण्डित्यं सूर्याभावे अन्धकारवत्स्फुटम् यद्विपरीत-ज्ञानान्तर्गत-त्वदज्ञाने मते कथञ्चिद्विपर्ययज्ञानविपरीत-प्रमयोरेक-

---

यह कथन कि 'बौद्ध जैन आदियों के द्वारा भी वेदों की स्वतः प्रामाणिकता क्यों नहीं मान ली जाती ? व्यर्थ ही है, क्योंकियह अनिवार्य नहीं है कि वेदों का नित्यत्व और प्रामाण्य सुलभ होने पर भी जैन और बौद्ध भी अवश्य मान जावें । क्योंकि चेतन की प्रेरणा के बिना कृपाण काटने का काम नहीं करती । अथवा चेतन भेड़िये को भी कोई दयार्द्र-हृदय नहीं बना सकता । जैसे पुराणों के रूढ़िमत के वज्रलेप से युक्त आपकी मति को भी वैदिक सत्य सिद्धान्त स्वयं सत्पथ पर नहीं ला सकते, फिर बौद्धों के विषय में कहना तो बहुत दूर है । अतः उपदेश्योपदेष्टृत्वात् सिद्धिः' का क्रम है ।

आपने भी पृ० ७२ पर 'राग आदि से आक्षिप्त मन वाला, विविध विषय तृष्णा से घिरा हुआ ठीक रूप में वास्तविकता को नहीं समझ पाता' ऐसा समर्थन किया है । यहां पर भी प्रतिपक्ष की स्थापना न कर केवल खण्डन लक्ष्यक वृत्ति आपने वितण्डा ही प्रस्तुत की है । वेदों के स्वतः प्रामाण्य से संशयादि की अविषयता ही स्वप्रकाशता है" यह कल्पना निरर्थक प्रलाप है ।

अज्ञानियों के लिए वेद संशयादि के विषय हैं, विद्वानों के लिए नहीं, क्योंकि वेद सर्वार्थविद्योतक सर्वज्ञ कल्प हैं ।

आश्चर्य है आपका पाण्डित्य सूर्य की अनुपस्थिति में अन्धकार के समान स्पष्ट हो गया । आपके अज्ञान को विपरीत ज्ञान के अन्तर्गत मान लेने पर किसी प्रकार विपर्यय ज्ञान और विपरीत प्रमा के एक ही रूप होने से इससे

रूपत्वादेवास्मादन्या का ते विपरीत-प्रमा ? यदलेखि "विपर्यय-विपरीत-प्रमाऽज्ञानेति जिज्ञास्यमिति" । वस्तुतस्तु अप्रमाया एव प्रपञ्च एतत् । यथा च किरणावल्याम्—

"तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता ।
तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयो विप्रकीर्तितः ॥"

न्यायादिशास्त्रेष्वुद्भावितोऽसामञ्जस्यभारस्तु समत्वेनावाभ्यां वोढव्य, तत्त्वतस्तु न मे दृशाऽसामञ्जस्यमित्यत्राधिकविचारा-द्विरम्यते, पुस्तक-कलेवर स्थौल्यभिया । तत्त्वतस्तु प्रामाण्य-विषये न्याय-सिद्धान्त एषः, यन्मानस-प्रत्यक्ष-द्वारा ज्ञानग्रहणं भवति तथा तेन ज्ञानेन प्रवृत्त-पुरुषस्य सफल-प्रवृत्तिद्वारा तज्ज्ञानस्य प्रामाण्यस्य तथाऽप्रामाण्यस्यासफलप्रवृत्या अनुमानं क्रियते, ज्ञान-प्रामाण्या-प्रामाण्य-निश्चयो ज्ञानग्राहकसामग्रीभिन्नसामग्र्या जायते । अतः प्रामाण्याप्रामाण्ययोः परतो ग्राह्यता । परं सर्वेश्वर-प्रदत्तवेदज्ञाने नैषा प्रक्रिया, ईश्वरोक्त-ज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यात् ।

(पृ० ५३४-पृ० ५३६) भूमिकायाम् "अतः ईश्वरः

अन्य आपकी और कौन विपरीत प्रमा है जैसा कि आपने लिखा 'विपर्यय विपरीत प्रमाऽज्ञानेत्यादि जिज्ञास्यम्" वास्तव में यह अप्रमा प्रपञ्च है, जैसा कि किरणावली में उल्लेख किया है तत् शून्य में वैसी बुद्धि बना लेना अप्रमा कहाती है, उसके प्रपञ्च को विपर्यास और संशय कहते हैं ।

न्यायादि शास्त्रों पर उठाया हुआ यह 'असामञ्जस्यभार अर्थात् शास्त्रों में सामञ्जस्य नहीं है यह भार हम और आप दोनों को ही ढोना चाहिये । पर वास्तविक रूप से विचार करने पर मेरी दृष्टि से तो यहां कोई असामञ्जस्य नहीं है । पुस्तक कलेवर बढ़ने के भय से इस पर अधिक नहीं लिखा जा रहा है । तत्वतः प्रामाण्य विषय में न्याय का सिद्धान्त यह है, कि मानस-प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, उसी प्रकार उस ज्ञान से प्रवृत्त पुरुष की सफल प्रवृत्तिद्वारा उस ज्ञान के प्रामाण्य का असफल वृत्ति द्वारा अप्रामाण्य का अनुमान किया जाता है । अतः ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की परतोग्राह्यता मान ली जाती है । परन्तु सर्वेश्वर प्रदत्त वेदज्ञान में उक्त प्रक्रिया नहीं घटती, निष्कर्षतः ईश्वरज्ञान का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है ।

'भूमिका' में लिखा है 'इसलिए ईश्वर ने स्वयं प्रकाशित वेद का और

स्वयं प्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह (पृ० ४०) ।

आक्षेप :—'तदपि वदतोव्याघातान्नातिरिच्यते। ततो यस्य सिद्धिकरं प्रमाणमुच्यते, न तत् स्व-प्रकाशम्. तथात्वे च त्वद्रीत्या परमेश्वरोऽपि न स्वप्रकाशः, किमुत तदुक्तो वेदः ।'

समाधानम्—(१) भूमिका वचनस्यायमभिप्रायो यद् वेदास्तेन प्रकाशितास्तैश्चेश्वरसत्ता-स्वरूपस्य प्रकाशनं जायते । ईश्वरेण प्रकाशितत्वाच्च वेदानां स्वतः प्रामाण्यमपि भवति। कथं तत्र तव वदतो-व्याघातस्य कथनमुपपद्यते ? नहि क्वापि ऋषिणा उक्त-कथन विरोधे वचनं कृतमास्ते। यच्चाह "यस्य सिद्धिकरं प्रमाणमुच्यते, न तत् स्वप्रकाशं भवति" 'इदं त्वज्ञान-विजृम्भितं लोकभ्रामकं च' नैव नियमो यत् कश्चिदात्मानं प्रकाशयितुं नार्हति स्वयम् । स्वमात्मानं प्रकाशयति इति स्वप्रकाशं ब्रह्म तथा च वेदोऽपि । न च तस्यान्येन प्रकाशो जायते ।

अपनी सिद्धि करने वाला प्रमाण कहा है। (पृ० ४०)

आक्षेप—'वह भी वदतो व्याघात के अतिरिक्त कुछ नहीं, जिसका सिद्धिकर प्रमाण कहा जा रहा है, वह प्रकाशित नहीं है, वैसा होने पर तुम्हारी रीति से स्वयं परमेश्वर भी स्व-प्रकाश नहीं रहेगा। तब उसका कहा हुआ वेद स्वप्रकाश कैसे हो सकता है।"

समाधान—(१) भूमिका कथन का अभिप्राय यह है कि वेद उस ईश्वर ने प्रकाशित किए और पुनः वेदों से ईश्वर सत्ता के स्वरूप का प्रकाशन होता है। ईश्वर से प्रकाशित होने के कारण वेदों का स्वतः प्रामाण्य भी सिद्ध है, वहाँ तुम्हारा वदतो-व्याघात कथन कैसे उत्पन्न होगा ? सर्वथा अनुपपन्न है क्योंकि ऋषि दयानन्द ने उक्त कथन के विरोध में कहीं भी कथन नहीं किया।

यह कथन कि जिसका सिद्धिकर प्रमाण कहा जाता है, वह स्वयं प्रकाश नहीं होता। यह अज्ञान प्रेरित और लोगों को भ्रम में डालने वाला है। क्योंकि यह कोई नियम नहीं कि कोई स्वयं को प्रकाशित न कर सके' "स्वम् आत्मानं प्रकाशयति" इस व्युत्पत्ति से ब्रह्म स्वप्रकाश है और वेद भी स्वतः प्रमाण होने से स्वप्रकाश है, प्रमाण देकर सिद्ध तो जीवों के लिये किया जाता है।

(२) पुनश्च नवीनवेदान्तिनां स्वप्रकाशस्य पर-प्रकाशस्य वा विवेचना एव एकत्वात् कमन्यं प्रति सम्भवेत् ? को वा कस्य साक्षात्कारं कुर्यात् ? भवन्मते साक्षात्-करणीयस्य साक्षात्-कर्तृ-रूपात् अभेद एव, अतः ऋषि दयानन्द-मते एव त्रैतवादे स्वीकृते जीवात्मानं प्रति परमेश्वरेण वेद-ज्ञान-दान-द्वारा प्रकाशः कृत एव, अतः नास्ति काचिद्विप्रतिपत्तिः । तद्वचनाद्वास्त्येव प्रामाण्यं वेदानाम् ।

पू. प.—यच्चाह—"वस्तुतस्तु 'यत् 'साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ. ३।४।१) इतिरीत्याऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वात् प्रत्यगात्मरूपेण ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वम् । तस्यैव संशयाद्यविषयत्वात् ।"

समीक्षा—वस्तुतस्तु बृहदारण्यकोपनिषद एतत् प्रकरणमेव त्वया न ध्यातम् । तत्र चाक्रायण उषस्तः कथयति "यदेव साक्षादपरो-क्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तिरस्तं मे व्याचक्ष्व" तत्र शाङ्कर-भाष्यं च यथा 'यत् साक्षाद् अव्यवहितम् अपरोक्षादगौणं ब्रह्म बृहत्तमम् आत्मा सर्वस्याभ्यन्तरः, एतैः समस्तैर्गुणैर्युक्त एष कोऽसौ तवात्मा ? ·· तत्र पिण्डः, तस्याभ्य न्तरे लिङ्गात्मा करण-सङ्घातो

और हाँ ! नवीन वेदान्तियों के पक्ष में स्व या पर प्रकाश की विवेचना ही नहीं उठती, क्योंकि एक ब्रह्म ही स्वप्रकाश नहीं हो सकता अर्थात् जब कोई दूसरा है ही नहीं। फिर वह किस पर प्रकाशित होगा ? स्वस्कन्धा-रोहणवत् कौन किसको प्रकाशित करे। कौन किसका साक्षात्कार करे, क्योंकि तुम्हारे मत में साक्षात्-कर्त्ता और साक्षात् करने योग्य अभिन्न ही हैं।

अतः ऋषि दयानन्द के मत में त्रैतवाद को ही स्वीकृत करने पर जीवात्मा के प्रति परमेश्वर ने वेद-ज्ञान-दान के द्वारा स्व-प्रकाश किया है। इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठती। 'तद्वचनात्' अर्थात् ईश्वर का वचन होने से वेदों का प्रामाण्य है ही।

पू० पक्ष—यह जो कहा कि 'वस्तुतो साक्षाद् परोक्षाद ब्रह्म' इस रीति से अवेद्यत्व मान लेने पर अपरोक्ष होने से ब्रह्म की प्रत्यगात्म रूप से स्व-प्रकाशता है, क्योंकि उसके प्रति किसी को संशयादि नहीं होते।'

समीक्षा—वस्तुतः बृहदारण्यकोपनिषद् का यह प्रकरण ही आपने नहीं समझा। वहाँ चाक्रायण उषस्त कहता है कि 'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सर्वान्तर है, उसे मुझे कहिये' इस पर शङ्कराचार्य भी कहते हैं "जो साक्षाद्

द्वितीयः, तृतीयो यश्च सन्दिह्यमानः तेषु कतमो ममात्मा ?" इहाऽपि सन्दिह्यमान इति पदेन संशयमापन्नः एवेत्याशयः । न चेह स्वप्रकाशत्वम् ? अवेद्य त्वे सत्येवाग्रिमप्रश्नोद्भूति-सम्भवात् । परमवेद्यत्वं तु नवीन-वेदान्तिनाँ पक्षेऽसम्भवम्, ब्रह्मणो वस्त्वन्तराऽनङ्गीकारात्, कश्चान्यो वेत्ता वेद्यो वा स्यात् ! ब्रह्मणश्च सर्वदा स्वात्मबोध-सम्भवाच्च ।

न च मायाजन्म भ्रमत्वेनाऽवेद्यत्वम्, मायया द्वैतापत्त्या सिद्धान्त-हानेः इति बह्वन्यत्राऽपि पल्लवितम् द्रष्टव्यम् । तस्मात् 'तस्यैव संशयाद्यविषयत्वात्' इत्युक्तिस्त्वसारा ।। चार्वाकस्य माभून्नाम 'नाऽहमस्मीति प्रतीतिः, परं नवीन-वेदान्तिनि ब्रह्मरूपेऽपि भवति तु भ्रमो भवत्येव ।

पुनश्चार्वाकाणां निदर्शनेन 'अहमस्मीति' अनेन तव क आशयः ?

अव्यवहित प्रमुख ब्रह्म बृहत्तम आत्मा सबके भीतर है, इन समस्त गुणों से युक्त है । यह आत्मा कौन सा है ? अवमुज्यु के कहने पर कि पहला तो पिण्ड है, इसके भीतर इन्द्रिय, संघात रूप लिङ्ग देह द्वितीय है और तीसरा वह है जिसके विषय में सन्देह है । इनमें तुम किसे मेरा सर्वान्तर आत्मा बतलाना चाहते हो ? यहाँ भी 'सन्दिह्यमान' इस पद से 'संशय को प्राप्त' यही आशय है । इसमें स्वप्रकाशत्व नहीं है ।

अवेद्यत्व होने पर ही अग्रिम प्रश्न की उद्भूति सम्भव है. परन्तु नवीन वेदान्तियों के पक्ष में तो 'अवेद्यत्व-कथन' भी नहीं घट सकता, क्योंकि वे ब्रह्मातिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करते । फिर दूसरा वेद्य या वेत्ता कौन होगा ? ब्रह्म को तो सदा स्वात्मबोध सम्भव ही रहेगा ।

यदि आप कहें मायाजन्य भ्रम से अवेद्यता है, यह कथन बन नहीं सकता, क्योंकि माया की सत्ता स्वीकृत करते ही द्वैतापत्ति से सिद्धान्त हानि होगी, इत्यादि हमने अन्यत्र पल्लवित किया है, जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिये । इसलिये 'तस्यैव संशयाद्यविषयत्वात्' यह आपकी उक्ति सारहीन है । आपने कहा कि चार्वाक को 'नाहमस्मि' की प्राप्ति नहीं होगी, परन्तु नवीन वेदान्ती ब्रह्मरूप होने पर भी आपमें भ्रान्ति सदा वर्तमान रहेगी ही ।

पुनः चार्वाकों के उदाहरण 'नाहमस्मि' प्रस्तुत करने से आपका क्या

किन्तैरात्मा त्वदभिमतः स्वीकृतो, देहादि-व्यतिरिक्तो वा ? परं न तैश्चार्वाकैरधिगम्यते तथा । अपि च नेदं निदर्शनं तव साधकं, प्रत्युत देहेन्द्रियमनःसमुच्चयात्मकात्मत्वाऽधिगमत्वेन बाधकमेव । वस्तुतस्तु भवान् स्व-सिद्धान्तेऽस्पष्ट एव । चार्वाकास्तु देहादि-व्यतिरिक्तात्म-सिद्धये बुद्ध्यादि-गुणैर्नानुमानस्य प्रामाण्यमङ्गीकुर्वते, न वा शब्द-प्रामाण्यम् । तथा भवानपि वेदस्येश्वरप्रणेतृत्वं न स्वीकुरुते । अस्मिन् विषये चार्वाकाणां तव च साम्यमेव ।

(पृ० ५३४ अनु. २)—अत्र "यथार्थस्वरूपेण" इति स्थाने-णत्वाभावस्तु अपाणिनीयः पठितः । सर्प्यगादितिमन्त्रस्य च स्वामिनोऽर्थमाक्षिपन् यत्वाह "अकायमित्यनेन स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरत्रय संबन्ध-रहितत्वसिद्धौ 'अव्रणमस्नाविरमिति' पदयोः व्यर्थता एव विवेचकाः विचारयन्तु यदयमाक्षेपः वेदेष्वेव कृतः, न तु स्वामिनोऽर्थे, इयम् खलु प्रच्छन्नवेद-निन्दैव, स्वामिनोऽर्थस्तु उव्वटमहीधराभ्यामपि समर्थ्यतेऽत्र, यथा "य एवामात्मानमुपासते स पर्यगात् परिगच्छति

आशय है ? क्या उन्होंने तुम्हारे अभिमत आत्मा को स्वीकृत किया है या कि देहादि से व्यतिरिक्त कोई अन्य । पर वे चार्वाक वैसा नहीं मानते । इस प्रकार यह उदाहरण तुम्हारी किसी बात का साधक नहीं । प्रत्युत "देह इन्द्रिय मनः समुच्यात्मक आत्मा उन चार्वाकों द्वारा माना जाने से बाधक है । वास्तव में बात तो यह है कि आप स्वयं भी अपने सिद्धान्त में अस्पष्ट और भ्रान्त हैं । चार्वाकों ने तो देहादि व्यतिरिक्त आत्मा की सिद्धि के लिए बुद्ध्यादि गुणों से अनुमान का प्रामाण्य भी नहीं माना और न वे शब्द-प्रामाण्य को मानते हैं । उसी प्रकार आप भी वेद का ईश्वर प्रणेतृत्व नहीं मानते, इस विषय में आपकी और चार्वाकों की समानता है ।

यहां "यथार्थस्वरूपेण' के स्थान पर 'स्वरूपेन' बनाना तो अपाणिनीय है । तथा 'सपर्यगात्' इस मन्त्र का अर्थ जो स्वा० दयानन्दकृत है, उस पर आक्षेप करते हुए यह कहना कि 'अकायम्' इससे स्थूल, सूक्ष्म, कारण, शरीरत्रय सम्बन्धरहितता सिद्ध हो जाने पर 'अव्रणम्' 'अस्नाविरम्' इन पदों की व्यर्थता है ।' विवेक विचार करें कि यह व्यर्थता का आक्षेप वेद पर ही किया गया है न कि स्वा० दयानन्द के अर्थ पर । यह तो प्रच्छन्न वेद-निन्दा ही है । स्वामी जी के अर्थ का तो समर्थन तो आपके पूज्य उव्वट और महीधर ने भी कर

शुक्र-शुक्ल-विज्ञानानन्द-स्वभावमचिन्त्य-शक्तिम् । अकायम् न विद्यते कायः शरीरं यस्य सः तथोक्तः, अव्रणम् कायरहितत्वादेव अस्नाविरं स्नायुरहितमकायत्वादेव । शुद्धमनुपहतसत्त्वरजस्तमोभिरपापविद्धम् क्लेशविपाकाशयैरसंस्पृष्टम् ।

अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तानि 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरुक्त १०।४२), इत्यदोषः ।, महीधरभाष्ये इदमधिकम् "मनीषी मनसः ईशिता सर्वज्ञः । स नित्यः ईश्वरः सर्वम् कृतवानित्यर्थः ।" एवम् इह ऋषिरेव समर्थितः ।

आर्ष-प्रातिभचक्षुषा ऋषिणा दृष्टो विशिष्टोऽर्थः, 'अर्थान् व्यदधात्' इत्यस्य प्रतिसर्गं विदधाति इति समुपयुज्यत एवार्थः, स नित्यः सर्वं (वेदोपदेशमपि) कृतवान्, करोति करिष्यति इति वा । भो महापाणिनीय 'यथार्थ स्वरूपेन' इत्यत्र नकारोपलब्धौ मुद्रणत्रुटिः 'यथार्थ-स्वरूपेण' इत्येव पाठः समीचीनः इति निर्विवादम् । स च भाष्य-भूमिकायाः द्वितीय-संस्करणे सम्वत् १९४९ तमे विक्रमाब्दे मुद्रिते स्पष्टं द्रष्टुं शक्यः ।

यथा च भवत्पुस्तके वेदार्थपारिजाते प्रारम्भ एव प्रथमे पृष्ठे श्री गणेणायः नमः श्री लक्ष्म्यैःनमः इत्यत्र विसर्गयुक्तं रूपद्वयं मुद्रितं सर्वथा अशुद्धमेव, किमस्माभिरेवं वाच्यं यद् भवान् एतयोः शब्दयोः चतुर्थ्यन्त-रूपमपि न जानातीति, कदापि नैव, अत एवास्माभिः नैतत् त्रुटित्वेन आक्षिप्तं यावता भवता नाऽपि संस्करणान्तरं प्रकाशितं

दिया है । देखिये "जो इस प्रकार परमात्मा की उपासना करते है कि वह सर्वत्र व्याप्त है, शुक्र, शुक्ल विज्ञानानन्द-स्वभाव और अचिन्त्य शक्ति है । जिसका कार्य 'शरीर' नहीं है और कायरहित होने से ही अव्रण और स्नाय्वादि रहित है । शुद्ध सत्त्व, रज और तम से अनुपहत है, पापविद्ध भी नहीं, क्लेश विपाकाशयों से अस्पृष्ट है ।'

'अकायम्' अव्रणम्, अस्नाविरम्, ये पुनरुक्त से प्रतीत होते हैं, परन्तु निरुक्तकार का कथन है कि यह पुनरुक्ति दोष नहीं, प्रत्युत अभ्यास-पठन सार्थक है, अतः कोई दोष नहीं । महीधर भाष्य में उक्त के अतिरिक्त इतना अधिक कहा है कि 'मनीषी अर्थात् वह मन का ईशिता, सर्वज्ञ है । उस नित्य ईश्वर ने सब कुछ बनाया है ।" इस प्रकार ऋषि का समर्थन ही हुआ है ।

नापि अशुद्धिपत्रम् पुस्तके संयोजितम् । अतः भूमिकायास्तु द्वितीय-संस्करणे 'स्वरूपेण' इति पाठोपलम्भाद् अपाणिनीयत्वस्य भवदाक्षेपः सर्वथा अयुक्तो द्वेष-दृष्टि-सूचकश्च ।

करपात्रमहोदयः स्व-पूर्वापर-विरोधोक्ति मेवाऽचिन्तयन् प्रलपतीव । यथा (१७९ पृष्ठे पं० १२) —

'ईश्वरस्य तु ज्ञानेच्छाप्रयत्नानां नित्यत्व-सिद्धौ तैरेव कार्योत्पत्तौ कृतमस्य शरीर-ग्रहणेन" इत्यत्रेश्वरस्य अशरीरित्वमुक्तं, वैकुण्ठ-गोलोक-साकेत-कैलाशमणिद्वीपादिषु सपरिकरस्य सशरीरस्य भगवतोऽवस्थानं शास्त्रेषु वर्णितमेव" 'सर्वसाधारण शरीरापेक्षया तच्छरीराणां वैलक्षण्यसिद्धिः" । (१८१ पृ. पं. ६) इत्यत्र चेश्वरस्य शरीरित्वं प्रोक्तं, तदेवं विवेचकाः स्वयं विचारयिष्यन्ति किमत्र सत्यमिति ? किञ्च करपात्रिन् ।

न्यासीकृता पुराणानामाधिपत्ये मतिर्निजा ।
अतो नैव क्षमा किञ्चद्-वेदतत्त्वावगाहने ॥

परन्तु आर्ष प्रतिभा सम्पन्न दृष्टि से ऋषि दयानन्द ने और भी विशिष्ट अर्थ देखा अर्थात् 'व्यदधात्' इसका अर्थ प्रत्येक सर्ग में सृष्टि रचना करता है' यह अर्थ सर्वथा उपयुक्त ही है, उसने नित्य सर्व वेदोपदेश भी किया था, करता है और करेगा ।

'करपात्र महोदय तो अपनी पूर्वापर-विरोधोक्ति को न देखकर प्रलाप करने पर तुले हुये हैं । इन्होंने १७९ पृ० पं० १२ पर लिखा है—

'ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के नित्य सिद्ध होने पर उनके ही द्वारा कार्यजगत् की उत्पत्ति हो जायेगी, शरीर-धारण की क्या आवश्यकता है तथा पृ० १८१ पर—"वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलास, मणिद्वीप प्रभृति में अपने भृत्य वर्ग के साथ सशरीर भगवान का निवास शास्त्रों में वर्णित ही है" 'सर्व साधारण शरीरों की अपेक्षा उसके शरीरों की वैलक्ष्यसिद्धि माननी पड़ती है" । विवेचक स्वयं ही विचार कर लेंगे कि यह चूं चूं का मुरब्बा कैसा ?

करपात्री जी ने अपनी बुद्धि पुराणों के आधिपत्य में गिरवी रख दी है, इसलिये वेदों के तत्त्वावगाहन में समर्थ नहीं हैं ।

नैवास्माभिर्लक्षितं सर्वग्रन्थ-खण्डनं बहुत्रोपलम्भनात्तद्विषयाणाम् अवतारवादादीनां खण्डनस्य । यावानंशः प्रसङ्गमनुबध्नाति भूमिकाऽऽलोचने तस्याऽप्यल्पीयानंश एव समालोच्यते, तस्य सर्वस्य तु बहु-समय-साधन-साध्यत्वात् ।

ननु "सपर्यगात्, इतिमन्त्रे 'अकायम्' अव्रणम्, 'अस्नाविरम् इति पदैः ईश्वरस्य लक्षणं विधीयते, लक्षणत्वं तु दोषत्रय-शून्यत्वम् भवति तथा 'अकायम्' पदेन वायोरपि विशेषणत्वं भवितुमर्हति इत्यति-व्याप्तिदोष-वारणाय 'अस्नाविरमितिपदं .बन्धनाभावद्योतकम्, वायोश्च बन्धनार्हत्वात् नलिकादिषु ; परमेश्वरस्यातिसूक्ष्मत्वात् वायोरपि तत्र प्रवेशानर्हत्व-सूचकम् 'अव्रणमिति, पदं प्रयुक्तम् । एवमिदमीश्वरलक्षणं सम्पत्स्यते, तदा नास्ति व्यर्थः पाठः 'अस्नाविरम्' 'अव्रणम्' इति पदयोरिति वाच्यम् इति चेन्न, कायशब्देन चीयन्ते अस्मिन् कर्माणि चीयतेऽन्नादिभिर्वा इत्यर्थो गृह्यते, कायश्च शरीरम्, शरीरं त्रिविधम् स्थल-सूक्ष्मकारणात्मकम्, तत्त्रिविधमपि शरीरं नास्ति ईश्वरस्येति-

---

यहाँ हमारा लक्ष्य वेदार्थ पारिजात का अविकल खण्डन करना लक्षित नहीं है, क्योंकि उसके अवतारवादादि का बहुत खण्डन उपलब्ध है । जितना अंश ऋग्वेदादि भा० भू० के आलोचन में प्रासंगिक रूप से आ गया है, उस का भी अंशतः ही समालोचन किया जा रहा है, क्योंकि इसको बहुत समय और साधन अपेक्षित है ।

प्रश्न —'सपर्यगात्' इस मन्त्र में 'अकायम्' 'अव्रणम्' अर्थात् इन पदों से ईश्वर का लक्षण किया जा रहा है और लक्षण 'दोषत्रय' अव्याप्ति आदि तीनों दोषों से शून्य होना चाहिये तथा 'अकायम्' पद तो वायु का भी विशेषण हो सकता है, अतः अतिव्याप्ति दोष वारण के लिये 'अस्नाविरम्' यह पद बन्धनाभाव द्योतक है जबकि वायु नलिकादि में बांध ली जाती है । परमेश्वर अतिसूक्ष्म है, जिसमें वायु का भी प्रवेश नहीं हो सकता । यह बताने के लिए 'अव्रणम्' यह पद प्रयुक्त किया है । इस प्रकार यह त्रिपद पाठ की सार्थकता बन जाएगी और अस्नाविरम् और अव्रणम् पदों की भी व्यर्थता न रहेगी ।

समा० —ऐसा कहना भी ठीक नहीं है—क्योंकि काय शब्द जो अन्नादि से पुष्ट होता है अथवा जिसमें कर्मों का चयन हो उसे काय कहते हैं, यह

'अकायमिति पदेन महर्षिणा गृहीतम्, यत्र हि आक्षिप्तं करपात्रिणा । न च वायुः क्वापि कायत्वेन प्रसिद्धः स्थूलादिष्वनन्तर्भावात् । अपि च न कायो यस्याऽस्ति इति सः अकायः इति व्युत्पत्तिस्तु पञ्चभूतव्यतिरिक्ते मुक्तजीवे एव घटते । जीवोऽपि कदाचित् मुक्त्यवस्थायां एतद्व्युत्पत्तिभाग् भवति, अपरत्र च सकायो जायते । वायोरकायत्वमेव, अन्यथा मनसो बुद्धेश्चित्तस्याप्येकैकस्य कायपद-घटितताऽऽपतेत् । वस्तुतस्तु 'अकायम्' इत्यादि पदार्थानां समावेशः 'स पर्यगात्' इति पदे एव सम्भवति, सर्वव्यापकत्वात्, सर्वजगति परिपूर्णत्वात्, एकस्याऽपि परमाणोस्तद्व्याप्तेः रहितत्वाभावात् च । अतो न लक्षणत्वमेतेषु त्रिष्वेव पदेषु सीमितम् । अपरिमित-प्रज्ञेन महर्षिदयानन्देन अस्मिन् मन्त्र-व्याख्याने लिखितम् यत् शुक्रादि लक्षणैर्युक्तो यः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमेश्वरोऽस्ति स स्वसामर्थ्येन वर्त्तमानोऽर्थान् स्वप्रजायं (व्यदधात्) अरचयत् ।

काय अर्थात् शरीर तीन प्रकार का होता है स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण । यह तीनों प्रकार का भी शरीर ईश्वर का नहीं है—

यह अर्थ महर्षि ने अकायम् पद से ही गृहीत किया है । जिस पर करपात्री जी ने आक्षेप किया है । कहीं पर भी वायु को काय नहीं कहा गया, क्योंकि स्थूलादि में इसका अन्तर्भाव हो जाता है- -

और 'जिसके काय नहीं' यह व्युत्पत्ति तो पञ्चभूत व्यक्ति में ही घटित होती है ।

जीव भी कभी मुक्त्यवस्था में इस व्युत्पत्ति वाला होता है, मुक्ति की अवस्था से अन्यत्र सकाय होता है । वायु का तो अकायत्व ही है अन्यथा मन, बुद्धि, चित्त में भी काय पद की घटितता आने लगेगी । वस्तुतस्तु 'अकायम्' आदि पदों के अर्थों का समावेश 'स पर्यगात्' इस पद में ही सम्भव है, ईश्वर के सर्वव्यापक होने से उस परमात्मा से सर्वजगद्पूर्ण होने तथा एक भी परमाणु के उसकी व्याप्ति से रहित होने का अभाव है । इन्हीं उक्त 'अकायम' आदि तीनों पदों में ही ईश्वर का लक्षण सीमित नहीं है । इसीलिए अपरिमित प्रज्ञ महर्षि दयानन्द ने इसी मन्त्र के व्याख्यान में लिखा है कि शुक्रादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर है, उस ब्रह्म ने अपने सामर्थ्य से वर्तमान होकर अर्थों को प्रजा के लिए बनाया ।"

अतो वेदमन्त्रेण निषेधात्मकाकायादिपदैः परमात्मानं विशेषयद्भिरपि कायस्य सम्भावित-सर्व-विशेषणान्यपि व्याख्यातानि । यथा जीवकायः व्रण-स्नायु-पापादि-युक्तो भवति । किञ्च 'अस्नाविरमिति पदं वायुवारणाय मन्येत तदा 'शुद्धमितिकथने अपापविद्धमिति पदस्य व्यर्थताऽपद्येत । तथा चेदम् कथनं महर्षि-कथनाद् विपरीतं स्यात् । यद्येतावदेव अकायत्वे सति 'अस्नाविरत्वमव्रणत्वम्' ईश्वरत्वम् इति लक्षणं क्रियेत, तदा शरीरं हि—

'भोगायतनम् अथवा चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः, तच्च त्रिविधत्वे समाविष्टमिति कृत्वा वायुरपि पञ्चभूताङ्गत्वेन शरीर-ग्रहणेन गृहीतः स्यात् ।

वस्तुतस्त्वेतन्मन्त्र-ध्वनितोऽर्थो महर्षिणा सत्यार्थप्रकाशे प्रकाशितः सप्तमे समुल्लासे । 'सपर्यगात्' अस्मिन् मन्त्रे द्विविधं पदकदम्बकम्, एकं परमेश्वरस्य सगुणस्तुतिख्यापकम्, इतरद् निर्गुणस्तुतिपरकम् । तथा च (१) सः पर्यगात्, शुक्रम्, कविः, मनीषी, परिभूः, स्वयम्भूः. याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् इति प्रथमम् (२) अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, अपापविद्धम्, इति द्वितीयं निर्गुणस्तुतिकृत् ।

इसलिए वेदमन्त्र के द्वारा निषेधात्मक अकाय आदि पदों से परमात्मा की विशेषता बताते हुए भी काय के सम्भावित सब विशेषण भी बता दिए । जैसे जीव का काय व्यलीकं पीड़ाकरम् स्नायु पञ्चादि युक्त होता है और 'अस्नाविरम् यह पद यदि वायु-वारण के लिए माना जावे, तो 'शुद्धम्' इस पद के कहने पर 'अपापविद्धम्' इस पद की व्यर्थता बनी ही रहेगी और यही कथन महर्षि के कथन से विपरीत हो जाएगा । यदि इतना हो तो 'अकायत्व होने पर अस्नाविरत्व और अव्रणत्व ईश्वरत्व है, यह लक्षण माना जावेगा ।

क्योंकि शरीर तो भोगायतन अथवा चेष्टा इन्द्रियार्थ का आश्रय है । वह तीन प्रकार का है । वायु भी पञ्चभूतों का अङ्ग होने से शरीर के ग्रहण से से गृहीत हो जाता है ।

वास्तव में इस मन्त्र से ध्वनित अर्थ को महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में प्रकाशित किया है । 'सपर्यगात्' इस मन्त्र में दो प्रकार का पद समूह है । एक तो परमेश्वर का सगुण स्तुतिपरक और दूसरा निर्गुण स्तुति परक जैसे—(१) सः पर्यगात्, शुक्र, शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू, स्वयंभू—

यथा हि (१) "सर्वत्र व्यापकः, आशुकरोऽनन्तवलवान्, शुद्धः सर्वज्ञः, सर्वान्तर्यामी, सर्वातिशायी, सनातनः स्वयं-सिद्धः परमेश्वरः सनातनानादिजीवरूपां प्रजां निजनित्यविद्यया यथावदर्थान् वेद मुखेन बोधयति । तत्तद्गुण-विशिष्टस्य परमेश्वरस्य स्तवनादियं सगुणा स्तुतिः ।

(२) देहविवर्जितस्यात्मनः, अच्छिद्रस्य, नाड्यादिबन्ध-रहितस्य, अपापचारिणः क्लेश-दुःखाज्ञानसभिन्नस्य परमात्मनः, तत्तद रागद्वेषादिगुणैः पृथक्तया स्तुतिविधानं निर्गुणा स्तुतिः ।

परमेश्वरस्येवात्मनोऽपि गुण-कर्म-स्वभाव-संविधानमस्य फलम् । यथाहि परमेश्वरो न्यायकारी तथैव स्वयमप्यनुतिष्ठेत् । (सत्यार्थ प्र० ७ स०) अतः—

एतद् गहन-बोधेन ऋषेस्तस्य तपस्विनः ।
ऋतम्भरैव प्रज्ञासीत् सत्यमित्यवसीयते ॥

तथैव भूमिकायामुपासना-विषयेऽपि "सेयं तस्य परमेश्वर-

याथातथ्यतोऽर्थात् व्यदधात् । यह प्रथम (२) अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, अपापविद्धम्, यह द्वितीय ।

जैसे—सर्वत्र व्यापक, आशुकर, अनन्त वलवान् शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी सर्वातिशयी, सनातन, स्वयं सिद्ध परमेश्वर, सनातन अनादि जीवरूप प्रजा को निज नित्य विद्या से यथावद् अर्थों का वेद-मुख से उपदेश करता है, उन गुणों से विशिष्ट परमेश्वर के स्तवन से यह सगुण स्तुति है ।

(२) देहरहित आत्मा अच्छिद्र, नाड्यादि बन्धन रहित अपापधारी, क्लेश-दुःख अज्ञान से पृथक् परमात्मा का उन-उन राग-द्वेष आदि गुणों से पृथक् होने से स्तुति विधान ही निर्गुण स्तुति है ।

परमेश्वर के समान जीवात्मा के भी गुण-कर्म स्वभाव का संविधान भी इससे ध्वनित होता है । जैसे परमेश्वर न्यायकारी है । वैसे ही स्वयं भी न्याय का अनुष्ठान करें (स० प्र० समु०७)

इस गम्भीर ज्ञान से उस तपस्वी ऋषि की प्रज्ञा ऋतम्भरा ही थी, यह सत्य प्रमाणित हो जाता है ।

उसी प्रकार भूमिका के उपासना विषय में भी कहा है कि उस परमेश्वर

स्योपासना द्विविधाऽस्ति—एका सगुणा, द्वितीया निर्गुणाचेति। तद्यथा--"स पर्यगाच्छुक्र०" इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्रं शुद्धमिति सगुणोपासनम्। अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि-निर्गुणोपासनं च।"

श्री शङ्कराचार्येण कृतो मन्त्रार्थः "स प्रकृतः परमात्मा सर्वतोगः" इति। अतस्तेनापि शरीरत्रयरहित एव परमात्मा प्रतिपादितः। यदुक्तम् भवता "एवं परमात्मनः स्थूलसूक्ष्मकारणदेह-शून्यत्वेऽपि भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतदिव्यसच्चिदानन्दलक्षणं स्थूल-सूक्ष्म-शरीरवत्त्वमस्त्येव" इति तदेतत् परस्परविरोधिवचसां व्यर्थतैव। प्रकृतेरनुत्पन्नमप्राकृतम् दिव्यं प्रकाशस्वरूपं सच्चिदानन्द-लक्षणात्मकं भक्त-भावनादृष्ट्या स्थूलं सूक्ष्मं चापि विरुद्धं कल्पितशरीरमिति तु काल्पनिकं न तु वास्तविकमप्राकृतत्वात्। ननु तदीदृक्स्थूलं पृथिव्यादि, सूक्ष्मं च परमाण्वादि यस्य शरीरवद्वर्तते। भक्तश्च किन्न एतेषु पदार्थात्मकशरीरेषु सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्म पश्यति यथा "यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम्" इत्यादि।

न चात्र शरीरपरकार्थ एव स्वीकार्यः, "तत्परातत्पर-विरोधे तत्परं बलवदिति न्यायेन" निराकारप्रतिपादनश्रुतेरेव बलवत्तरत्वात् इति।

की दो प्रकार की उपासना है। एक सगुण और दूसरी निर्गुण जैसा कि 'सपर्यगात्' इस मन्त्र में है।

श्री शङ्कराचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ किया है, कि 'वह प्रकृत परमात्मा सर्वत्र (प्राप्त) है' तथा शरीर-त्रय रहित ही परमात्मा का प्रतिपादन किया है। आपने जो कहा कि 'इस प्रकार परमात्मा के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर-त्रय शून्य होने पर भी भक्तानुग्रहार्थ अप्राकृत दिव्य सचिदानन्द-लक्षणात्मक स्थूल, सूक्ष्म शरीरवत्ता हो ही जाती है" ये परस्पर विरोधी वचन तो प्रलापमात्र व्यर्थ ही हैं। प्रकृति से अनुत्पन्न अप्राकृत, यह आपका ही कल्पित शरीर है, वास्तविक नहीं। स्थूल पृथिव्यादि और सूक्ष्म परमाणु आदि जिसके शरीरवत् हैं।

और ज्ञानी भक्त इन पृथिव्यादि पदार्थात्मक शरीरों में सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म को निर्मल बुद्धि से देखते हैं। जैसा कि वेद में कहा है 'यस्य भूमिः प्रमा—' आदि।

ननु रामादीनां दिव्य-देहे बाणादिकृतव्रणवत्त्वप्रतीतिःमायाऽऽरोपितैव न तु वास्तविकीत्यपि 'न' वाच्यम्, रामादीनामपि सर्वक्लेशदर्शनेन कल्पितदिव्यदेहस्य प्रत्यक्षविरोधात्, तेषामप्राकृताभावात्। किञ्च भगवतः शङ्करस्य यद्यन्योऽभिप्रायो व्याख्यायेत तदा नास्मदादरास्पदम्' श्रुतिविरोधात्। यथा चोपनिषदि "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवीशरीरम्" (बृहद्० ३।७।३)। इत्यस्य शाङ्करभाष्ये त्वत्कल्पितशरीरस्यापोषितत्वाच्च,।

ईशोपनिषद्भाष्ये तु नैवायमर्थो यत् भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतदिव्य सच्चिदानन्दलक्षण स्थूलसूक्ष्म-शरीरवत्त्वमप्यस्त्येवेति। तदेतत् त्वया स्वकल्पितमेव वर्धितम्। शतपथ ब्राह्मणे तु आत्मा एव शरीरं वर्णितम्, यथा "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनान्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। आत्मनोऽन्तरो यमयति स तु आत्मान्तर्याम्यमृतः। (शत० १४।६।७)।

यहां शरीर-परक अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'तत्पर और अतत्पर विरोध में तत्पर ही बलवान होता है' इस न्याय से निराकार-प्रतिपादक श्रुति ही बलवत्तर है।' क्योंकि निराकारत्व-प्रतिपादक श्रुति की ही बलवत्ता है।

(पू. प.) रामादि की देह दिव्य थी, उसमें बाण आदि से की हुई व्रण-युक्त प्रतीति माया से आरोपित है न कि वास्तविक। (उ० प०) यह कहना भी सङ्गत नहीं, क्योंकि राम आदि में सब क्लेशों का अनुभूत होना सिद्ध है और कल्पित-दिव्य-देह का प्रत्यक्ष से विरोध है. क्योंकि वे देह अप्राकृत नहीं थे।

यदि भगवान् शङ्कर का अन्याऽभिप्रायक व्याख्यान किया जाये तो वह श्रुति विरुद्ध होने से हमें आदरणीय नहीं। उसी प्रकार 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इस बृहदारणक शांकरभाष्य में करपात्र द्वारा कल्पित शरीर का मानना भी समर्थित नहीं है।

ईशोपनिषद् भाष्य में तो 'भक्तानुग्रहार्थ अप्राकृत दिव्य शरीर आदि कथन नहीं है, यह तुम्हारा ही कपोल-कल्पित बढ़ाया हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में तो 'आत्मा को ही शरीर वर्णित किया है' जैसे 'जो आत्मा में स्थित होता हुआ--

न च "अनुदरीकन्या" इतिवत् नञोऽल्पार्थकत्वाद्विरोधपरिहारवदत्रापि 'अकायमल्पकायमिति कल्पनीयम् । "अनुदरीकन्या" इत्युदाहरणस्यात्रासङ्गतेः, उदराभावे तदभावापत्तेः । न च तथा ब्रह्मणः स्थितिः, तस्य कायाभावेऽपि तत्सत्ताभावप्रसक्तेः । अत्र शाङ्करमुत्थानकं यथा "कथं पुनराकारवदुपदेशिनीषु च ब्रह्म-विषयासु श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते, न पुनर्विपरीतम् ? अत उत्तरं पठति—"अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।" (वेदान्त ३।२।१४) रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं न रूपादिमत्, कस्मात् ? तत्प्रधानत्वात् । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृह० ३।८।८) 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३।१५)' दिव्यो ह्यमूर्त्तःपुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मुण्ड० २।१।२) । तस्मादेतेषु वाक्येषु यथा श्रुतं निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम् ।"

का तर्ह्याकारवद्विषयाणाम् श्रुतीनाम् गतिरित्यत आह—"प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम्" (वेदान्त० ३।२।१५) इति । तदेवमुक्त शाङ्करभाष्येणापि त्वदनभीष्टं निराकारमेव ब्रह्म सिद्धम् । घटते चेयं निर्मलोक्तिः मत्या यत

चतुर्वेदो गतः काशीं, यः षड्वेदबुभूषया ।
द्विवेदीभूय चायातः कीदृग्भाग्यविडम्बना ।
देहधारणबुद्ध्यैव शाङ्करं भाष्यमुद्धृतम् ।
निराकारं परं ब्रह्म, सिद्धं सत्यं न चानृतम् ॥

किञ्च, दिव्यदेहे व्रणवत्त्वप्रतीतिः मायादिदर्शितब्रह्मादिवदारोपिता, इति तु उन्माद-प्रलाप एव ।

"मायादि" इत्यत्र आदिपदेन नवीन-वेदान्तिनां कृते किमवशिष्टं ? यद् ग्राह्यम् ।

वस्तुतस्तु निरर्थक एव आदि-पाठः । मायादि-दर्शित-ब्रह्मादिवदारोपितम्, किमारोपितमत्र ? आदि-पद-निरर्थकता, ब्रह्मपद प्रयोगानुपयुक्तता च तव हिन्दीरूपान्तरकृतैव स्वीकृतेति ध्वन्यते त्वदननुवदनात् ।

जिसका आत्मा शरीर है इत्यादि (शत० १४।६।७) ।

शङ्का—'अनुदरी कन्या' में जैसे नञ् अल्पार्थक है, उसी प्रकार अकायम् में भी 'अ' को अल्पार्थक मान लिया जावे अर्थात् परमात्मा का लघु शरीर है, ऐसा क्यों न मान लिया जावे ?—

समा०—महाशय ! यह कथन यहाँ सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि 'उदराभाव में तो इस उक्ति का अभाव ही रहेगा । 'अनुदरीकन्या' के समान ब्रह्म की स्थिति नहीं, क्योंकि उसके काय का अभाव होने पर भी ब्रह्म की सत्ता तो प्रसक्त है ही । यहाँ पर शङ्कर की प्रस्तावना देखिये "साकार का उपदेश देने वाली और निराकार का उपदेश देने वाली ब्रह्म विषयक श्रुतियों के होने पर निराकार ब्रह्म का ही कैसे अवधारण किया जाता है और उसके विपरीत नहीं ? इसलिये इसका उत्तर कहते हैं—'रूप आदि आकार से रहित, ब्रह्म का अवधारण करना चाहिये 'अस्थूलम्' इत्यादि श्रुति में निर्विशेष ब्रह्म प्रधान है" (वेदा० ३।२।१४)

तथा जैसे 'न वह स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है (वृह० ३।८।८) (वह शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित और अव्यय है, (कठ० ३।१५) 'वह पुरुष दिव्य, अमूर्त्त और बाहर तथा भीतर और अजन्मा है, (मुण्डक २।१।२) अतः इन वाक्यों में यथाश्रुत निराकार ब्रह्म का ही अवधारण करना चाहिये ।

प्रश्न—इस प्रकार साकार ब्रह्म प्रतिपादक श्रुतियों की क्या गति होगी ?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर वेदान्तकार कहते हैं—"प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम्" इस प्रकार फिर उक्त शाङ्कर भाष्य से भी आपका अनभीष्ट निराकार ही ब्रह्म सिद्ध है । सच है—चले तो चतुर्वेदी काशी को छब्बे होने को, पर द्विवेदी होकर लौटे, कैसी भाग्य की विडम्बना है ?

शङ्कर का भाष्य ईश्वर को देहधारी सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया था, परन्तु निराकार ब्रह्म ही सत्य सिद्ध हुआ ।

दिव्य देह में व्रण आदि की प्रतीति तो मायादि दर्शित ब्रह्मादिवत् आरोपित है, यह कथन तो उन्माद प्रलाप ही है ।

आप बताइये 'मायादि' यहाँ पर आदि पद से नवीन वेदान्तियों के लिये और क्या अवशिष्ट रहेगा, जो ग्राह्य है ?

वास्तव में आपका 'आदि' पाठ निरर्थक ही है । मायादि दर्शित ब्रह्मादि-

ननु शङ्कराचार्य-भाष्य-नाम्ना "भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतं शरीर" मित्यनेन साकारतापि नाम सिध्येद् ब्रह्मणः, का हानिः ? इति चेन्न, वेद-विरोधात् सिद्धान्त-हानेर्महाऽनर्थापत्तेश्च, यतो हि ब्रह्मणः साकारत्वे व्यापकत्वक्षत्यासर्वज्ञत्वादिगुणाभाव-प्रसक्तौ, परिमित-त्वाद् गुणकर्म-स्वभावानामपि परिमिततापत्तिः स्यात ।

न च निराकारः सन्नपि ईश्वरः स्वभक्त-दर्शन-दानाय विग्रहवान् भवत्येव इति वाच्यम्, गोगोचर-शरीरस्य मायामयत्वात्, चर्म-चक्षुर्दर्शनार्हत्वाच्च तस्य आत्मस्थब्रह्मणस्तु दर्शनाभावः ।

न च हिरण्य-कशिप्वादिराक्षस-विनाशाय प्रह्लादादिभक्त-रक्षणाय शरीरधारणप्रयोजनमेवास्तु, सर्वव्यापकस्य तेषामपि हृदयेषु व्यापकत्वात् हृदयावरोधादिना विनाशेऽपि सर्वथाक्षमत्वात् ।

वन् आरोपित किया, यह तो अस्पष्ट रहा । आपके पठित 'आदि' पद की निरर्थकता और ब्रह्मपद प्रयोग की अनुपयुक्तता तो नीचे अनुवाद न देकर आपके हिन्दीकार ने ही ध्वनित कर दी, क्योंकि उन्होंने इसका अनुवाद नहीं किया ।

यदि कोई शङ्का करे कि 'भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतं शरीरम्' इसको शंकर का कल्पित पाठ मानकर ही ब्रह्म की साकारता सिद्ध हो जाने दो, इसमें आपकी क्या हानि है ? भाई ! ऐसी बात नहीं, क्योंकि वेद-विरोध होने तथा सिद्धान्त हानि होने से महान् अनर्थ हो सकता है, ब्रह्म की साकारता मानने पर व्यापकत्व की क्षति होगी, उसमें असर्वज्ञत्व आदि गुणों का अभाव भी आ पड़ेगा तथा ब्रह्म के परिमित मानते ही उसके गुणकार्य स्वभाव की भी परि-मितता माननी पड़ेगी । ऐसा भी नहीं कह सकते कि निराकार होते हुये भी ईश्वर अपने भक्तों को दर्शन देने के लिये विग्रहवान् हो जाता है, क्योंकि इन्द्रिय गोचर शरीर तो मायामय ही होगा और चर्म-चक्षुओं से दर्शनीय भी हो जायेगा । आत्मस्थ ब्रह्म का दर्शनाभाव हो जायेगा ।

और न यही कह सकते हैं कि 'हिरण्यकशिपु' आदि राक्षसों के विनाश के लिये, प्रह्लाद आदि भक्तों की रक्षा के लिए शरीर धारण करना सप्रयोजन है, क्योंकि सर्वव्यापक ईश्वर उनके भी हृदयों में व्यापक होगा, इस प्रकार वह हिरण्यकशिपु आदि के विनाश में हृदयावरोधादि से सर्वथा समर्थ है ।

किञ्च पुराणेऽपि (स्कन्दे ४।१३।१५) साकारत्वं स्पष्ट-माक्षिप्यते ।

किं विष्णुः किं शिवो ब्रह्मा मघवा किं बृहस्पतिः ।
देहवान् प्रभवत्येव विकारैः संयुतस्तदा ।।
अयमेव भावः स्वामिना सत्यार्थ-प्रकाशेऽपि द्योतितः ।

उदरम्भरयो नाम किमपि लिखितुं पारयेयुः परमिदं भृशं क्लेशयते, विस्मयञ्चावहते यद्भगवतः शङ्कराचार्यस्याप्युत्तरा-धिकारी शङ्कराचार्य श्री १०८ श्री निरञ्जनदेव तीर्थ महाराजोऽपि पुरीपीठमलङ्कुवन् आद्य-शङ्करभाष्य-विरुद्धं जनमनोरञ्जनाय ईश्वरस्य साकारतां प्रतिपादयति । तथाहि:-अयं वेदार्थ-पारिजातस्यादौ स्व-वक्तव्यं प्रस्तौति "यत्स्वामिदयानन्दादयः कतिपय-भारतीय विद्वांसो वेद-सम्बन्धे स्वमनोमानितामकुर्वन्" इति ।

भोः तीर्थपदलाञ्छन ! किमर्थमस्मिन् वेदकदर्थकर्मकर्दमे अवसी-दति भवान् करपात्रसंस्कृतपांडित्य-हत-प्रतिभः सन्तेन सह ? यदेकतः स्वामिदयानन्दमृतम्भराप्रज्ञमभिनिन्दति, अपरतो महीधरम-

---

पुराण में भी (स्कन्द ४।१३।१५) ईश्वर की साकारता का स्पष्ट खण्डन किया है जैसे कि विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र बृहस्पति सभी विकारों से संयुक्त हैं ।, यही भाव महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में प्रकाशित किया है ।

पेटू लोग कुछ भी अनर्गल लिख सकते हैं, परन्तु यह अत्यन्त क्लेशकारक और विस्मयकारक है कि भगवान् शंकर के भी उत्तराधिकारी श्री निरञ्जन देव पुरी-तीर्थ के अधीश्वर भी आद्य-शंकर के भाष्य के विरुद्ध मूर्तिपूजनकजनों को प्रसन्न करने के लिये ईश्वर की साकारता का प्रतिपादन करते हैं । इनकी बुद्धि जनता के थोथे सम्मान प्रदर्शन के नाम पर गिरवी रख गई और अपने महानगुरु शकर का इन्होंने तिरस्कार कर दिया । खेद है कि ये वेदार्थ-पारि-जात के आदि में वक्तव्य प्रस्तुत करते हैं कि स्वामी दयानन्द आदि कतिपय विद्वान् वेद के सम्बन्ध में अपनी मनमानी कर रहे हैं ।

भगवन् तीर्थ जी ! आप वेद के कदर्थ कर्म रूपी कीचड़ में फँसे करपात्र जी के संस्कृत-पाडित्य से हतप्रभ होकर उनके साथ क्यों गढ़े जा रहे हो ? जो एक ओर ऋतम्भर प्रज्ञ स्वामी दयानन्द की निन्दा कर रहे हो ? और दूसरी

ऽभिनन्दति, किं कदापि भवता तद्भाष्ये "गणानांत्वा" आदि मन्त्राणां अश्लीलादिदोष-दुष्टार्थोऽप्यवलोकितः ? येन स्ववक्तव्यान्ते भवान् आश्वस्तो 'यदनेन वेदार्थ-पारिजातेन समस्तः संसारः उपकृतो भविष्यतीति' लिखितवान्। उपहासास्पदमयं सदसद्विवेको यद् भवतोऽपि महातोषः स्वामिदयानन्द-द्वेषेणैव परिवर्धते, भवन्तं त्वभ्यर्थये श्रद्धया यत् कुपक्ष-पङ्ककलङ्काङ्कितैः शब्दप्रयोगैर्मा कलङ्कयतु पीठम्।

न चैवम् "नमो हिरण्यबाहवे" "नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः" इत्यादि श्रुतिशत-विरोधपरिहाराय विग्रहवत्ताऽङ्गीकृतिरेव श्रेयान् पन्थाः इति वाच्यम्, तेषां मन्त्राणाम् तात्पर्यानभिज्ञानात्। यतोहि 'नमोहिरण्यबाहवे' (यजु० १६।१७) मंत्रे प्रतिपादितम्-यत्तेजस्विभुजाय सेनाशिक्षकाय नमो वज्रमन्नादिकं वा भवतु, हरितपर्णभ्यो हरणशील-सूर्य-किरणवदाम्रादिवृक्षेभ्यो नमः वज्रादिकं तच्छेदनाय, एवमग्रेऽप्यूह्यम्। "नीलग्रीवाः शितिकण्ठा" इति मन्त्रेऽपि सूर्य-विद्युतो-विज्ञानोपदेशेन आग्नेयाद्यस्त्राणां सिद्धेरुपदेशः। महीधर-

और महीधर का अभिनन्दन कर रहे हो। क्या कभी आपने उनके भाष्य में 'गणानांत्वा—' आदि मन्त्रों का घोर अश्लीलार्थ भी देखा है ? क्या अपने वक्तव्य में आप आश्वस्त है ? जो लिखा है कि इस वेदार्थ-पारिजात से समस्त ससार उपकृत होगा।' वाह ! क्या कहने हैं आपके सदसद्विवेक के, बलिहारी है आपकी बुद्धि को। जो आपका भी सन्तोष स्वामी दयानन्द के द्वेष से बढ़ता है। आपसे हम श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करते हैं कि अधम-पक्ष के पंक कलङ्क से अंकित शब्दों के प्रयोग से पीठ को तो कलङ्कित न कीजिये।

यह कहना भी भूल है कि 'नमो हिरण्य बाहवे' नीलग्रीवा शितिकण्ठा' इत्यादि श्रुतियों के सैंकड़ों विरोधों के परिहार के लिये विग्रहवत्ता स्वीकार कर लेनी चाहिये, आप द्वारा इन मंत्रों का तात्पर्यार्थ न समझने के कारण ऐसा कहा जा रहा है, क्योंकि 'नमोहिरण्य बाहवे' मन्त्र में प्रतिपादित किया गया है कि जो तेजस्वी भुजावाला सेना शिक्षक है, उसके लिये नमः अर्थात् वज्र या अन्नादिक हों इत्यादि। 'नीलग्रीवाः' इस मन्त्र में भी सूर्य और बिजली के विज्ञानोपदेश के द्वारा आग्येन्यादि अस्त्रों की सिद्धि का उपदेश है। यदि महीधरकृत मन्त्रार्थ तुम्हारा अभिमत है तो तद्वर्णितशंकर की भौतिक

कृतमन्त्रार्थस्य त्वदभिमतत्वे सति तु तत्रस्थ-शङ्करस्य भौतिक-विषपान-घटनाऽनन्तरमेव एतन्मन्त्ररचनायाः सिद्धौ सत्यां वेदे नश्वरेतिवृत्तापातेन महाननर्थ-सम्भवः।

यच्चोक्तं "समाभ्यः" इत्यस्य 'प्रजाभ्यः' इति काल्पनिक एवार्थ' इति शङ्का तु अनुर्वरमस्तिष्क-जनसुलभा, रूढ्यर्गलाजडीकृत-विचार-तन्तुत्वात्। सुधिया निभालयन्तु तावद्,यद् "अर्थान् व्यदधात्" इति अर्थानाम् विधानम् नहि जीवान् विना तर्कसङ्गतं स्यात्। अतः ऋतम्भर-प्रज्ञो महर्षि दयानन्दः "समाभ्यः" प्रजाभ्यः जीवेभ्यः इत्यर्थमुचितमेव चक्रे।

किञ्च नित्य-चेतनत्वात्समानधर्माणो जीवाः एव समाः, तथा च मानार्थान्माधातोः सम्मान्ति इति समाः, सह वर्तते वा मानं ज्ञानं वा आसु ताःसमास्ताभ्यः प्रजाभ्यो जीवेभ्यः इति। न च जीवेभ्यः पृथक् क्वापि परमात्मनो वेद-ज्ञानस्याधिकरणता।

न च महीधर-कृतोऽर्थः 'संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्यः अर्थान् पदार्थान् व्यदधात्' इति साधीयान् स्यादिति वाच्यम्' तन्मत-प्रजा-

विषपान घटना के अनन्तर ही इस मन्त्र की रचना की सिद्धि माने जाने पर वेद में नश्वर इतिहास को स्वीकृत करने पर महान् अनर्थ हो जायेगा।

यह जो कहा कि 'समाभ्यः' का अर्थ प्रजाभ्यः अर्थात् प्रजाओं के लिए—करना काल्पनिक है। यह शङ्का तो अनुर्वर मस्तिष्क वाले जनों को सुलभ है, रूढ़ि की अर्गला से विचार तन्तुओं के जड़ होने का ही यह परिणाम है। बुद्धिमान् विचार करें कि 'परमात्मा ने पदार्थों का विधान किया' यह अर्थों का विधान जीवों के बिना तर्कसंगत नही हो सकता। अतः ऋतम्भर-प्रज्ञ महर्षि दयानन्द ने 'समाभ्यः, प्रजाभ्यः' यह अर्थ किया।

नित्य चेतन होने से समान-धर्म जीव ही हैं। इस प्रकार मानार्थक मा धातु से सम्मान्ति इति समाः अथवा जिनका ज्ञान समान हो ऐसे जीवों के लिये। जीवों से पृथक् परमात्मा के ज्ञान की अधिकरणता भी कहीं नहीं है।

पू० प० —सम्वत्सर नामक प्रजापतियों के लिये पदार्थों का विधान किया गया, महीधरकृत यह अर्थ ही सही क्यों न मान लिया जावे ?

समाधान—महीधर के माने प्रजापति तो अचेतन हैं, अतः उनके लिये

पतीनामचेतनत्वात् । यदि च ते प्रजापतयश्चेतनावन्तो न तदा जीवातिरिक्ताः ते ।

अथ चाऽचेतनास्तेभ्यः पदार्थ-विधानस्याप्रयोजनत्वात् । तस्मात् 'प्रजाभ्य' एष एवार्थो गरीयान्, न तु महीधरादि-कृतो वेद-महत्त्व विलोपकोऽर्थः । अपरं च यथा 'दण्डमाकार्य भोजय' इत्यत्राभिधार्थ-बाधात् लक्षणया दण्डवन्तमाकार्य इत्यर्थः उपपद्यते, तथैव समाभ्यः समावद्भ्यो वत्सरवद्भ्य जीवेभ्यः एवेत्यर्थः सूपपन्नः सर्वथा, विद्वद्वर्यो भीमसेनोऽपि उपनिषद्भाष्ये महर्षिमतमेवानुचक्रे ।

(पृ० ५३६ अनु० १) स्वामिना 'नासत आत्मलाभो न सत आत्म-हानमिति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं युक्त्याऽपि प्रतिपादितम् । तत्र करपात्राणामेष आक्षेपः यत् "सत्कार्यवादाङ्गी-कारे घटादेरपि नित्यत्वापत्तिः स्यात्", इत्यविवेकः सः । यतोहि कार्ये कारणस्य शक्ति-मत्त्वं हि उपादानम्, उत्पत्तेः पूर्वं च कार्यस्य कारणेन सहाऽभेदः, कार्यस्य कारणान्तर्वर्त्तित्वात्, तिलेषु तैलवत् ।

न च कारणे कार्यस्य सत्त्वात् तदुत्पत्तियोगो न घटते इति कार्य-सत्तायाः कथमप्यभिहितायामुत्पत्तौ अपि, अनादित्वान् नाशाऽनापत्तिः स्यादिति वाच्यम्, अभिव्यज्यमानकार्योत्पत्तेर्व्यवहाराऽव्यवहार-योरभिव्यक्तिभावाददोषः ।

ननु 'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः, इति न्यायेन घटादेः पूर्व-सत्त्वात् नाशाऽसम्भवान् नित्यत्वाऽपत्तिः स्याद् यथा ईश्वर-ज्ञाने वेदानां नित्यत्वमिति चेन्न, 'नाशः कारणलयः' इति परिभाषया कार्यस्याऽभिव्यक्तेः कारण-लयत्वात्, उत्पत्ति-धर्मत्वाच्च । न च वेदानामपि तथैव नाशो मन्तव्य इति वाच्यम्, घटादीनां तु परिणाम-धर्मप्रकृतेरुपादानस्य विकारत्वात् ।

न च तथा परमात्मनो विकारत्वेन वेदानां परिणामे आविर्भावः, अनन्तविद्यावतः परमात्मनोऽपरिणामित्वे वेदानां तद्गुण-रूपत्वे च याथातथ्येन प्रकाशितत्वात् । नेदं वाच्यं यत् "कार्यस्य कारण-लयस्यादर्शनान्नाशाऽभावो हि घटादेः," विवेकि-दृग्गोचरं हि तन्नत्व-विवेकिनाम् ।

अर्थों का विधान घटित नहीं होता।

यदि वे प्रजापति चेतन हैं, तो जीव से अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकते। अतः 'प्रजाभ्यः' यही अर्थ सर्वथा समुपयुक्त है। न कि महीधरादिकृत वेद गरिमा विलोपक कदर्थ। पं भीमसेन शर्मा ने भी अपने उपनिषद् भाष्य में 'समाभ्यः' का जीव अर्थ किया है।

दूसरे जैसे 'दण्डे को बुलाकर खिला दो' यहाँ पर अभिधार्थ के बाध होने से लक्षणा के द्वारा 'दण्ड वाले को' यह अर्थ उत्पन्न होगा, उसी प्रकार 'समाभ्यः' समावद्भ्यः सम्वत्सर वाले जीवों के लिए ही' यह अर्थ संगत है।

विद्वद्वर्य पं. भीमसेन जी ने भी उपनिषद्भाष्य में महर्षिमत का ही समर्थन किया है।

स्वामी जी ने 'जो वस्तु है नहीं, वह हो नहीं सकती, और सत् का अभाव नहीं हो सकता, इस न्याय से वेदों के नित्यत्व को युक्ति से भी प्रति-पादित किया है। वहाँ पर करपात्री जी का आक्षेप है कि सत्कार्यवाद स्वीकार करने पर घड़ा आदि की भी नित्यता माननी पड़ेगी, यह कथन तो अविवेक पर आधारित हैं, क्योंकि कारण मे कार्यशक्तिमत्ता ही उपादान है और उत्पत्ति से पूर्व कार्य का कारण के साथ अभेद होता ही है, तिलों में तेल होने के समान कार्य के कारण-अन्तवर्ती होने से।

यह कथन भी ठीक नहीं होगा कि कार्य के कारण में अन्तवर्ती होने से उत्पत्ति मानना भी नहीं बन पायेगा और कार्यसत्ता की कथमपि उत्पत्ति कर भी ली जावे, तो अनादि होने से नाश की अनापत्ति अर्थात् असङ्गति होगी।, अभिव्यज्यमान कार्योत्पत्ति के व्यवहार तथा अव्यवहार दोनों में ही अभिव्यक्त होने से कोई दोष नहीं।

तथा यदि 'असत् का भाव और सत् का अभाव नहीं होता, इस न्याय से घटादि की पूर्व सत्ता मानने से नाश तो असम्भव हो जायेगा, तब नित्यता माननी पड़ेगी, जिस प्रकार ईश्वर के ज्ञान में होने से वेदों का नित्यत्व मानते हैं कहें"तो यह कथन भी ठीक नहीं—क्योंकि 'नाशः कारणलयः' इस परिभाषा से कार्य की अभिव्यक्ति कारण में लीन रहती है और वे (वेद) उत्पत्ति धर्म वाले हैं। तब वेदों का भी उसी प्रकार नाश मानना चाहिये—यह कथन भी

सारोऽयम् यत् सदसत्-कार्यवादिनोरिदमेवाऽन्तरम् यद्-असत्कार्यवादिनः कार्योत्पत्तेः पूर्वदशायाम् प्रागभावं कारणलयं च ध्वंसमिति कथयन्ति, अनयो द्र्वयोरप्यवस्थयोरभावं मन्यन्ते। सत्कार्यं वादिनश्चोभयोरवस्थयोर्भावं मन्यन्ते। द्वेऽपि दशे चाऽनागतातीत नामभ्यां व्यवहरन्ति बुधाः। एवं स्थवीयोधियां कृते ऋषिणाऽङ्गीकृता दृष्टिः सुस्पष्टं व्याख्याता। प्रायिकं ते प्रतितन्त्रसिद्धान्तः शरणम्।

(पृ० ५३७ अनु०१) करपात्रेण स्वग्रन्थे बहुत्रानृतव्याघात पुनरुक्तय उपन्यस्ताः। परमृषिणा तु इह यस्यानुभवस् तस्य संस्कारः, यस्य च संस्कारस्तस्य स्मरणमित्यादि न पिष्टपेषणमुच्यते, तद्विषय-विशदीकरणाय निदर्शन-पुरस्सरमुपन्यस्यते स्वामिना, न च पुनर्वचनम्। यथा यूयं 'सुप्त प्रबुद्धन्यायेन वेदानां स्मरणं प्रतिपादयथ, न तत् खलु समीचीनं वर्त्म, न चाऽपि तर्कसहम्। वेदोहि परमात्मनो ज्ञानं स्वाभाविकं, न चान्यस्य, प्रमाणाऽभावात्। यदा कदाऽपि परेश एव त्वदभिमतं सम्प्रदायं प्रावर्त्तयत्, तत् प्रवर्त्तनस्याप्येष एवोपक्रमः। परेशोपज्ञाया एतन्मूलकत्वात्।

सुप्त-प्रबुद्ध-न्यायाऽसङ्गतिस्तु पूर्वं विवेचिता। इह तु ऋषिणा विद्या-प्राप्तेः क्रम एव बोधितो। यथा ईश्वरोपदेशः ऋष्यात्मसु, तैश्चान्येषामध्यापनं, तेन विद्यानुभवस्ततः संस्कारस्तदनु स्मरण-मितियावत्।

यदुक्तं 'केचिद् ऋषयः पूर्वकल्पीयं वेदं स्मरन्ति तदनुग्रहेण।' इह अनुग्रहस्त्वपेक्षितस्ते, एवमपीश्वरस्यैवादिकारणत्वमेव ज्ञानदाने समुपपद्यते। तदेवं हस्तं परिभ्राम्यैव स्वनासाग्रहणं कृतं भवता।

संगत नहीं, क्योंकि घड़ा आदि तो परिणाम धर्म वाली प्रकृति (उपादान) का विकार है।

वेद ईश्वर का विकार नहीं। उस प्रकार विकार होने से वेदों का परिणाम आविर्वाव नहीं कहा जा सकता। 'अनन्तविद्यावान् परमात्मा अपरिणामी है और वेद ईश्वर का गुण है, अतः यथातथ्यरूप से प्रकाशित हुये हैं। वे ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि 'कार्य का कारण में लय होना तो दिखाई नहीं पड़ता, अतः घटादि का नाशाभाव ही मानना ठीक है' यह कारण में कार्य का लय होना विवेकियों को दृग्गोचार होता है, अविवेकियों को नहीं।

सार यह है कि 'सत् और असत् कार्यवाद का यही अन्तर है कि असत् कार्यवादी कार्योत्पत्ति से पूर्व दशा में प्रागभाग और कारण लय को ध्वंस कहते हैं। ये इन दोनों अवस्थाओं में अभाव को मानते हैं और सत् कार्यवादी दोनों अवस्थाओं में भाव मानते हैं। विद्वान् लोग दोनों दशाओं को अनागत और अतीत नामों से व्यवहृत करते हैं। इस प्रकार स्थूलतर बुद्धि वालों के लिये ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट व्याख्यान की दृष्टि अङ्गीकृत की है। प्रायः तुम्हारा प्रतितन्त्र सिद्धान्त ही शरण है।

करपात्री जी ने अपने ग्रन्थ में बहुत स्थलों पर अनृत, व्याघात और पुनरुक्तियां की हैं। यहाँ पर "जिसका अनुभव होता है, उसका संस्कार होता है और जिसका संस्कार होता है उसका स्मरण होता है, इत्यादि पिष्टपेषण ऋषि ने नहीं किया है। उस सम्वन्धित विषय के विशदीकरण के लिए उदाहरणपूर्वक ऋषि ने विषय का उपन्यास किया है, यहाँ पुनरुक्ति नहीं। जैसे कि आप 'सुप्त प्रबुद्ध न्याय से वेदों का स्मरण प्रतिपादित कर रहे हैं,' यह मार्ग अच्छानहीं और न बुद्धिसंगत ही है। वेद तो परमात्मा का स्वाभाविक ज्ञान हैं, अन्य का ज्ञान होने में कोई प्रमाण नहीं। जब कभी भी परमेश्वर ने ही आपके अभिमत सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया, उसके प्रवर्त्तन का भी यही उपक्रम है।

यह वेद परमेश्वर का आदि ज्ञान है। सुप्त प्रबुद्ध न्याय की असङ्गति हमने तो पूर्व ही विवेचित कर दी। यहाँ पर तो ऋषि ने विद्या प्राप्ति का क्रम ही बताया है कि जैसे ईश्वर ने ऋषियों की आत्माओं में उपदेश दिया, उन ऋषियों ने अन्यों को अध्यापन किया, उससे विद्यानुभव हुआ, उससे संस्कार बना, फिर स्मरण हुआ। यह जो कहा कि "कुछ ऋषि परमेश्वर के अनुग्रह से पूर्व-कल्पीय वेद का स्मरण करते हैं" यहाँ पर आपको ईश्वर का अनुग्रह तो अपेक्षित हुआ, इस प्रकार ज्ञानदान में ईश्वर की आदि-कारणताही समुपपन्न हुई अर्थात् हाथ को चक्कर कटवा के आपने अपनी नाक पकड़ी।

यहाँ पर ऋषि ने यह प्रतिपादित किया है कि जो नित्य वस्तु होती है, उसके गुण कर्म भी नित्य होते हैं। इसे प्रमाण विरुद्ध कहना आपकी बालभाषिता ही है। इसमें आपका अविवेक कारण है अथवा जानबूझकर छलाचरण है।

(पृ० ५३७ अनु० २) ऋषिणोक्तम् 'यन्नित्यं वस्तु तस्य गुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्तीति प्रतिपादितम्।' अत्र प्रमाणविरुद्धत्व-कथनंतु, बालभाषितमेव ते, तच्चाऽविवेकादवगत्याऽपि छलाचरणाद्वा। यदुक्तं "नित्यात्मनो ज्ञानादि-गुणानां दार्शनिकैरनित्यत्वमभ्युपगतम्' तस्मात् स्वामिनोक्तम् अप्रमाणमेव इति।" तदिह सदसद्विवेचका विचारन्तु यत् 'तन्नित्यं वस्तु' इत्यादि पाठात् पूर्वं वाक्यमिदमस्ति "तस्मादीश्वरादेव या वेद-विद्याऽऽगता सा नित्यैवास्ति, तस्य सत्य-गुणवत्त्वात् इति।" अत्र नित्यस्य ईश्वरस्य प्रसङ्गः, तत्र नित्यस्य जीवात्मनः उपक्षेपस्तु 'चौरजार-शिखामणिभक्तस्य तव सन्दर्भचौर्यं छलेनाऽभ्युपेतम् कृत्यं घृणितं त्रपाकरञ्च। कर्माण्यप्यत्र स्वाभाविकानि परमात्मन एवाऽभीप्सितानि। तदा कः प्रसङ्गस्तावद्देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिचेष्टा-लक्षण-कर्मणां नित्यतायाः।

(पृ. ५३८ अनु. १) 'नासत आत्म लाभः' इति तु न्यायावसरे समाहितम् तत्तत्रैव द्रष्टव्यम्। इह सदित्यस्य तात्पर्यं यत् त्रिष्वपि कालेषु वर्त्तते, यच्च कस्याऽपि कार्यं नैव भवति, किन्तु सदैव कारणरूपेण तिष्ठति, तदेव सत्। तस्य ब्रह्मणो नान्यत् कारणमतो तन्नित्यम्।

यह कहना कि—'नित्यात्मा के ज्ञानादि गुणों और नित्य परमाणुओं के गन्धादि गुणों का दार्शनिकों ने अनित्यत्व स्वीकार किया है, इसलिए स्वामी जी का कहा हुआ अप्रमाण है। यहाँ पर सदसद् विवेकी पाठक विचार करें कि 'यन्नित्यं वस्तु—' इत्यादि पाठ से पूर्व भूमिका में यह वाक्य है कि 'इसलिए ईश्वर से ही जो वेद विद्या आई है वह नित्य ही है, सत्यगुणवत्ता के कारण'। यहाँ पर नित्य ईश्वर का प्रसङ्ग है, वहाँ नित्य जीवात्मा' का उपक्षेप करना 'चोर जार शिरोमणि' कहकर महापुरुषों को कलङ्कित करने वाले भक्त आपका सन्दर्भ चौर्य छलयुक्त, लज्जाकर घृणित कृत्य है। यहाँ तो स्वामी जी को परमात्मा के स्वाभाविक कर्म ही अभीष्ट हैं, तो फिर देहेन्द्रिय मनोबुद्धि आदि चेष्टा लक्षण वाले कर्मों की नित्यता ढूंढने का आपका प्रयास तो बालू से तेल निकालने के समान व्यर्थ है।

'नासत आत्म-लाभ' इस न्यायावसर पर आपके इस प्रलाप का समाधान किया जा चुका है। आपकी मति कुण्ठा के कारण यह भी नहीं सोच सकती कि सत् का तात्पर्य तीनों कालों में रहने वाली वस्तु से है, जो किसी का कार्य

सत्कार्यवादिनां साङ्ख्यानां नैतेन विरुध्यते सिद्धान्तः अत्रोद्धरणे भूमिकातः 'अवतिष्ठतीतिलेखोऽपपाठं कृत्वा प्रस्तावितो न तु वास्तविकः। तत्र 'एव तिष्ठती'ति पठनात्। अन्यथा 'समवप्रविभ्यःस्थः, इति सूत्रेणात्मनेपद-विधान- प्रसक्तिदोषः स्यात्।

अनु० २—बालोऽपि नाम सुविशदीकृतं विषयमवबोद्धुं पारयति, परं रागद्वेषाऽसूयोपहतचेतसोऽसारग्राहिणस्तेऽप्रतिभानमेव, अतो निःसारमुक्तं त्वया।

'यथा संयोग-वियोगानन्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां, न प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोग-वियोगकारणे सामर्थ्यमस्ति, तथेश्वरेऽपि असामर्थ्यं भवेदर्थात् यदि सोऽपि कर्त्ता संयोग-वियोजजन्यः समभविष्यत् तदा परमाण्वादीनां संयोग-वियोगकरणे न समर्थोऽभविष्यद् इति समेषां सूक्ष्ममतीनामुत्प्रेक्ष्यम्, परं भवद्-बुद्धिस्तरादुच्चैः स्तर एष शास्त्र-विस्तरः।

नहीं प्रत्युत सदा कारण रूप से वर्तमान है वही सत् है। वह ब्रह्मसत् है और ब्रह्म का अन्य कोई कारण नहीं है अतः वह नित्य है। सत्कार्यवादी सांख्यों के सिद्धान्त का इससे कोई विरोध नहीं पड़ता। यहाँ भूमिका से उद्धरण देते समय 'अवतिष्ठति' यह अपपाठ करके उद्धृत किया है। वास्तविक पाठ तो 'एवतिष्ठति' है, यह आपका छल है जिससे लोग 'समवप्रविभ्यःस्थः, से आत्मनेपद का अभाव देखकर स्वामी दयानन्द के पाठ में अपाणिनीयत्व की धारणा कर लें।

बच्चा भी सुविशदीकृत विषय को समझने में समर्थ हो जाता है। राग-द्वेष और असूया से उपहत चित्त वृत्ति वाले असारग्राही आपकी बुद्धि के यह बाहर ही रहा, अतएव आपने ऋषि कथन को 'निःसार' कहा है। जैसे संयोग वियोग के अन्तर्गत न होने के कारण हम लोगों का परमाण्वादि का संयोग-वियोग करने में सामर्थ्य नहीं है, उसी प्रकार ईश्वर में भी असामर्थ्य होने लगेगा, यदि वह कर्त्ता भी संयोग-वियोग जन्य होता तब परिमाण्यादि के संयोग-वियोग करने में समर्थ न होता; यह बात सभी सूक्ष्मबुद्धियों द्वारा ज्ञातव्य है, परन्तु यह शास्त्र-चिन्तन आपकी बुद्धि के स्तर से परे है।

आश्चर्य है कि आप यहाँ असम्बद्धता देख रहे हैं यह सर्वथा असङ्गत है। आप पूर्वापर सम्बन्ध ग्रहण कर सकने मे सर्वथा असमर्थ हैं जो कि 'कर्त्ता संयोग-जन्यश्चेत्' यहाँ पर 'कर्त्ता' शब्द की उपेक्षा कर रहे हैं अथवा समझ नहीं पा

श्रीमन् ! न काऽप्यसम्बद्धताऽत्र, पूर्वापर-सम्बन्ध-ग्रहणाऽक्षमो भवान् यत् "कर्त्ता संयोगजन्यश्चेदत्र 'कर्त्तृ' शब्दमुपेक्षते नोत्प्रेक्षते वा। न वा संयोगजन्या आकाशात्मादयः, न वा कर्त्तृत्वेन जगतः स्मर्यन्ते। ऋषिणा परम-सूक्ष्मत्वेन सह-कर्त्तृत्वमेव प्रयोजकं गदितं न न तु केवलं सूक्ष्मत्वम्। पुनरनभीष्टस्येष्टापत्तेश्चेष्टायाः प्रश्न एव क्व ? शिष्टमविशिष्टं पूर्वमेव विस्पष्टं समाहितम्। अत एव सत्य-सामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद्वेदानां (परमात्म-ज्ञानस्थ) शब्दार्थसम्बन्धानां प्रादुर्भावात् तस्य ज्ञाने सदैव वर्त्तमानत्वात् सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चैतेषामस्तीति सिद्धमितिदिङ्मात्रम्।

ऋग्वेदादे ऋषिवर-दयानन्द-सद्भाष्य भूमौ,
मिथ्याचारोन्मदन-कथनाऽ बोध-बाल-प्रलाप-।
हेत्वा भासच्छल-बल-कलाऽरोपितानां समेषाम्,
आक्षेपाणां निरसनमभूद् वेद-नित्यत्व-सिद्ध्यै ॥
आदौ छलेन, निज पुस्तकमारभेत,
'मध्ये'ऽत्र यश्छलबलेन सदर्थलोपम्।

रहे हैं। आकाश आत्मा आदि तो संयोगजन्य है नहीं और न ये जगत् के कर्त्तृत्वेन गृहीत ही होते हैं स्वामी जी ने परम सूक्ष्मत्व के साथ कर्त्तृत्व को ही प्रयोजक माना है केवल सूक्ष्मता को नहीं। फिर श्रीमन् ! अनभीष्ट की इष्टापत्ति की चेष्टा करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? शिष्ट सामान्य का पहले ही स्पष्ट रूप से समाधान कर दिया गया है। इसीलिए सत्यसामर्थ्यवान् परमेश्वर के सकाश से परमात्मा का ज्ञान नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध वाले वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। वह ज्ञान सदा परमात्मा के ज्ञान में वर्तमान रहता है। अतः इन वेदों का सत्यार्थवत्त्व और नित्यत्व सिद्ध ही है। यह विषय संक्षेप रूप में दर्शाया गया।

ऋषि दयानन्द की उत्तम ऋग्नेदादि भाष्य भूमिका पर वेदों की नित्यता सिद्ध करने में मिथ्याचार (ढोंग, पाखण्ड) उन्माद-कथन और अबोध, बाल-प्रलाप, हेत्वाभास, छल-बल की कला से आरोपित किए गये सभी आक्षेपों का निरसन (समाधान) मेरे द्वारा कर दिया गया है।

जिन्होंने प्रथम पंक्ति में दयानन्दीय ऋग्वेद भाष्य भूमिका लिख कर ऋग्वेदादि शब्द से 'आदि' आदि शब्द को विलुप्त कर अपनी पुस्तक के

अन्ते प्रसङ्ग-परिलोपन-कर्म-दक्षम्,
नौम्यर्थवञ्चनकरं करपात्रमत्र ॥
अन्तेऽहं स्वामिदयानन्दे बद्धश्रद्धानभ्यर्थये,
यन्न ते अतत्त्ववित्-करपात्रि-
खण्डनेन स्वीयं मनो मलिनीकुर्वन्तु,
यावत् संसारे सदसद्-विवेकिनो विपश्चितो जीवन्ति ॥
पण्डितराज जगन्नाथस्येमां सूक्ति च ध्यायन्तु ते—
कमलिनि ! मलिनीकरोषि चेतः,
किमिति बकैर वहेलिताऽनभिज्ञैः।
परिणत मकरन्द मार्मिकास ते,
जगति भवन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः ॥

इति श्रीमद्विहारीलाल शास्त्रि-शिष्य श्रीमदाचार्य-विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने वेदार्थकल्पद्रुमे नाम ग्रन्थे वेद-नित्यत्व-विषयः सम्पूर्णः।

आरम्भ में छल किया है। 'वेदास्तेनाऽदौज्ञानमध्ये प्रेरिताः' इस पाठ के मध्य शब्द के उत्तम अर्थ का छल-बल से विलोप कर दिया तथा अन्त में बहुत से स्थानों पर प्रसङ्ग के लोप करने में दक्ष तथा आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे लोगों से अर्थ (धन) छीनने में चतुर एवं शास्त्र के उत्तम अर्थ का भी विलोपन करने में दक्ष श्री करपात्री जी को मैं नमन करता हूं।

अन्त में मैं महर्षि दयानन्द के श्रद्धालु भक्तों से निवेदन करूंगा कि वे अतत्ववित् करपात्री जी के इस खण्डन से अपना मन मलिन न करें, जब तक कि संसार में सदसद् विवेकी विद्वान् जीवित हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ की इस सूक्ति का भी ध्यान कर लें कि—

अनभिज्ञ वकों (वगुला) से निरादृत कमलिनी तू अपना चित्त क्यों मलिन करती है बस, मकरन्दरसिक मर्मज्ञ मिलिन्द (मधुकर) संसार में चिरायु रहें, इतना भर चाहो।

श्रीमद् बिहारीलाल जी के शिष्य आचार्य विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचित, करपात्रीकृत वेदार्थ-पारिजातमतखण्डक और महर्षि दयानन्दमतमण्डक 'वेदार्थ कल्पद्रुम' का वेद-नित्यत्व-विचार विषय सम्पूर्ण हुआ।

★